चली जायगी। जाड़े के दिन झाड़ू-बहारू, नहाने-धोने और खाने पीने में कट गए। मगर जब सन्ध्या-समय फिर जियावन का जी भारी हो गया तो सुखिया घबरा उठी। तुरत मन में शङ्का उत्पन्न हुई कि पूजा में विलम्ब करने से ही बालक फिर मुरझा गया है। अभी थोड़ा-सा दिन बाकी था। बच्चे को लेटाकर वह पूजा का सामान करने लगी। फूल तो जमींदार के बग़ीचे में मिल गए। तुलसी दल द्वार ही पर था, पर ठाकुरजी के भोग के लिए कुछ मिष्ठान्न तो चाहिए, नहीं तो गाँववालों को बाँटेगी क्या? चढ़ाने के लिए कम से कम एक आना तो चाहिए ही। सारा गाँव छान आई, कहीं पैसे उधार न मिले। तब वह हताश हो गई। हाय रे अदिन, कोई चार आने पैसे भी नहीं देता। आखिर उसने अपने हाथों के चाँदी के कड़े उतारे और दौड़ी हुई बनिए की दूकान पर गई, कड़े गिरो रक्खे, बतासे लिए और दौड़ी हुई घर आई। पूजा का सामान तैयार हो गया तो उसने बालक को गोद में उठाया और दूसरे हाथ में पूजा की थाली लिए मन्दिर की ओर चली।

मन्दिर में आरती का घण्टा बज रहा था। दस पाँच भक्त जन खड़े स्तुति कर रहे थे। इतने में सुखिया जाकर मन्दिर के सामने खड़ी हो गई।

पुजारी ने पूछा—क्या है रे? क्या करने आई है?

सुखिया चबूतरे पर आकर बोली—ठाकुरजी की मनौती की थी महाराज, पूजा करने आई हूँ।

पुजारीजी दिन भर जमींदार के असामियों की पूजा किया करते थे, और शाम सवेरे ठाकुरजी की। रात को मन्दिर ही में सोते थे, मन्दिर ही में आपका भोजन भी बनता था, जिससे ठाकुरद्वारे की सारी अस्तरकारी काली पड़ गई थी। स्वभाव के बड़े दयालु थे, निष्ठावान ऐसे कि

चाहे कितनी ही ठण्ड पड़े, कितनी ही ठण्डी हवा चले बिना स्नान किए मुँह में पानी न डालते थे। अगर इस पर उनके हाथों और पैरों में मैल की मोटी तह जमी हुई थी तो इसमें उनका कोई दोष न था। बोले—तो क्या भीतर चली आवेगी? हो तो चुकी पूजा। यहाँ आकर भरभष्ट करेगी?

एक भक्तजन ने कहा—ठाकुरजी को पवित्र करने आई है!

सुखिया ने बड़ी दीनता से कहा—ठाकुरजी के चरन छूने आई हूँ सरकार! पूजा की सब सामग्री लाई हूँ।

पुजारी—कैसी बेसमझी की बात करती है रे, कुछ पगली तो नहीं हो गई है। भला तू ठाकुरजी को कैसे छुएगी?

सुखिया को अब तक कभी ठाकुरद्वारे में आने का अवसर न मिला था। आश्चर्य से बोली—सरकार वह तो संसार के मालिक हैं। उनके दरसन से तो पापी भी तर जाता है, मेरे छूने से उन्हें कैसे छूत लग जायगी?

पुजारी—अरे, तू चमारिन है कि नहीं रे?

सुखिया—तो क्या भगवान ने चमारों को नहीं सिरजा है? चमारों का भगवान कोई और है? इस बच्चे की मनौती है सरकार!

इस पर वही भक्त महोदय ने, जो अब स्तुति समाप्त कर चुके थे, डपट कर बोले—मार के भगा दो चुड़ैल को। भरभष्ट करने आई है, फेंक दो थाली वाली। संसार में तो आप ही आग लगी हुई है, चमार भी ठाकुरजी की पूजा करने लगेंगे तो पिरथी रहेगी कि रसातल को चली जायगी?

दूसरे भक्त महाशय बोले—अब बेचारे ठाकुरजी को भी चमारों के हाथ का भोजन करना पड़ेगा। अब परलय होने में कुछ कसर नहीं है।

ठण्ड पड़ रही थी, सुखिया खड़ी काँप रही थी और यहाँ धर्म के ठेकेदार लोग समय की गति पर आलोचनाएँ कर रहे थे। बच्चा मारे ठण्ड के उसकी छाती में घुसा जाता था, किन्तु सुखिया वहाँ से हटने का नाम न लेती थी। ऐसा मालूम होता था कि उसके दोनों पाँव भूमि में गड़ गए हैं। रह-रहकर उसके हृदय में ऐसा उद्गार उठता था कि जाकर ठाकुरजी के चरणों पर गिर पड़े। ठाकुरजी क्या इन्हीं के हैं, हम गरीबों का उनसे कोई नाता नहीं है, ये लोग कौन होते हैं रोकनेवाले, पर यह भय होता था कि इन लोगों ने कहीं सचमुच थाली-वाली फेंक दी तो क्या करूँगी? दिल में ऐंठ कर रह जाती थी। सहसा उसे एक बात सूझी। वह वहाँ से कुछ दूर जाकर एक वृक्ष के नीचे अन्धेरे में छिपकर इन भक्तजनों के जाने की राह देखने लगी।

(४)

आरती और स्तुति के पश्चात् भक्तजन बड़ी देर तक श्रीमद्भागवत का पाठ करते रहे। उधर पुजारीजी ने चूल्हा जलाया और खाना पकाने लगे। चूल्हे के सामने बैठे हुए 'हूँ हूँ' करते जाते थे और बीच बीच में टिप्पणियाँ भी करते जाते थे। दस बजे रात तक कथा वार्त्ता होती रही और सुखिया वृक्ष के नीचे ध्यानावस्था में खड़ी रही।

सारे भक्त लोगों ने एक एक करके घर की राह ली। पुजारीजी अकेले रह गए। तब सुखिया आकर मन्दिर के बरामदे के सामने खड़ी हो गई जहाँ पुजारीजी आसन जमाए बटलोई का क्षुधावर्द्धक मधुर सङ्गीत सुनने में मग्न थे। पुजारीजी ने आहट पाकर गरदन उठाई तो सुखिया को खड़ी देखा। चिढ़कर बोले—क्यों रे तू अभी यहीं खड़ी है?

सुखिया ने थाली जमीन पर रख दी और एक हाथ फैला कर भिक्षा-प्रार्थना करती हुई बोली—महाराजजी, मैं बड़ी अभागिनी हूँ। यही

बालक मेरे जीवन का अवलम्ब है मुझ पर दया करो। तीन दिन से इसने सिर नहीं उठाया। तुम्हें बड़ा जस होगा महराजजी!

यह कहते कहते सुखिया रोने लगी। पुजारीजी दयालु तो थे, पर चमारिन को ठाकुरजी के समीप जाने देने का अश्रुतपूर्व, घोर पातक वह कैसे कर सकते? न-जाने ठाकुरजी इसका क्या दण्ड दें। आखिर उनके भी तो बाल-बच्चे थे। कहीं ठाकुरजी कुपित होकर गाँव का सर्वनाश कर दें, तो बोले—घर जाकर भगवान का नाम ले, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। मैं यह तुलसी-दल देता हूँ, बच्चे को खिला दे, चरणामृत उसकी आँखों में लगा दे। भगवान चाहेंगे तो सब अच्छा ही होगा।

सुखिया—ठाकुरजी के चरणों पर गिरने न दोगे महराजजी? बड़ी दुखिया हूँ, उधार काढ़कर पूजा की सामग्री जुटाई है। मैंने कल सपना देखा था महराज कि ठाकुरजी की पूजा कर, तेरा बालक अच्छा हो जायगा। तभी दौड़ी आई हूँ। मेरे पास रुपया है। वह मुझसे ले लो, पर मुझे एक छन भर ठाकुरजी के चरनों पर गिर लेने दो।

इस प्रलोभन ने पण्डितजी को एक क्षण के लिए विचलित कर दिया, किन्तु मूर्खता के कारण ईश्वर का भय उनके मन में कुछ कुछ बाक़ी था। सँभल कर बोले—अरी पगली, ठाकुरजी भक्तों के मन का भाव देखते हैं कि चरन पर गिरना देखते हैं। सुना नहीं है—'मन चङ्गा तो कठौत में गङ्गा'। मन में भक्ति न हो तो लाख कोई भगवान के चरनों पर गिरे कुछ न होगा। मेरे पास एक जन्तर है। दाम तो उसका बहुत है, पर तुझे एक ही रुपये में दे दूँगा। उसे बच्चे के गले में बाँध देना। बस, कल बच्चा खेलने लगेगा।

सुखिया—तो ठाकुरजी की पूजा न करने दोगे?

पुजारी—तेरे लिए इतनी ही पूजा बहुत है। जो बात कभी नहीं

हुई वह आज मैं कर दूँ और गाँव पर कोई आफत-बिपत पड़े तो क्या हो, इसे भी तो सोच ! तू यह जन्तर ले जा, भगवान चाहेंगे तो रात ही भर में बच्चे का क्लेश कट जायगा। किसी की डीठ पड़ गई है। है भी तो चोंचाल। मालूम होता छत्तरी बंस है।

सुखिया—जब से इसे जर आया है, मेरे प्रान नहों में समाए हुए हैं।

पुजारी—बड़ा होनहार बालक है। भगवान जिला दें, तेरे सारे सङ्कट हर लेगा। यहाँ तो बहुत खेलने आया करता था। इधर दो तीन दिन से नहीं देखा था।

सुखिया—तो जन्तर को कैसे बाँधूँगी महराज ?

पुजारी—मैं कपड़े में बाँध कर देता हूँ, बस गले में पहना देना। अब तू इस बेला नवीन बसतर कहाँ खोजने जायगी।

सुखिया ने दो रुपए पर कड़े गिरों रक्खे थे। एक पहले ही भँज चुका था। दूसरा पुजारीजी को भेंट किया और जन्तर लेकर मन को समझाती हुई घर लौट आई।

(५)

सुखिया ने घर पहुँच कर बालक के गले में यन्त्र बांध दिया, पर ज्यों ज्यों रात गुजरती थी उसका ज्वर भी बढ़ता जाता था, यहाँ तक कि तीन बजते-बजते उसके हाथ पाँव शीतल होने लगे। तब तो वह घबड़ा उठी और सोचने लगी। हाय ! मैं व्यर्थ ही सङ्कोच में पड़ी रही और बिना ठाकुरजी के दर्शन किए चली आई। अगर मैं अन्दर चली जाती और भगवान के चरणों पर गिर पड़ती तो कोई मेरा क्या कर लेता ? यही न होता, लोग मुझे धक्के देकर निकाल देते, शायद मारते भी, पर मेरा मनोरथ तो पूरा हो जाता। यदि मैं ठाकुरजी के चरणों को अपने

आँसुओं से भिगो देती और बच्चे को उनके चरणों में सुला देती तो क्या उन्हें दया न आती? वह तो दयामय भगवान हैं, दीनों की रक्षा करते है, क्या मुझ पर दया न करते? यह सोचकर सुखिया का मन अधीर हो उठा। नहीं, अब विलम्ब करने का समय न था। वह अवश्य जायगी और ठाकुरजी के चरणों पर गिरकर रोएगी। उस अबला के आशङ्कित हृदय को अब इसके सिवा और कोई अवलम्ब, कोई आश्रय न था। मन्दिर के द्वार बन्द होंगे तो वह ताले को तोड डालेगी। ठाकुरजी क्या किसी के हाथों बिक गए हैं कि कोई उन्हें बन्द कर रक्खे।

रात के तीन बज गए थे। सुखिया ने बालक को कम्बल से ढाँप कर गोद में उठाया, एक हाथ में थाली उठाई और मन्दिर की ओर चली। घर से बाहर निकलते ही शीतल वायु के झोंकों से उसका कलेजा काँपने लगा। शीत से पाँव शिथिल हुए जाते थे। उस पर चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था। रास्ता दो फरलाँग से कम न था। पगडण्डी वृक्षों के नीचे-नीचे गई थी। कुछ दूर दाहनी ओर एक पोखरा था, कुछ दूर बाँस की कोठियाँ। पोखरे में एक धोबी मर गया था और बाँस की कोठियों में चुडैलों का अड्डा था। बाईं ओर हरे भरे खेत थे। चारों ओर सन-सन हो रहा था, अन्धकार साँय साँय कर रहा था। सहसा गीदड़ों ने कर्कश स्वर से हुँआ हुँआ करना शुरू किया। हाय! अगर कोई उसे एक लाख रुपये देता तो भी इस समय वह यहाँ न आती, पर बालक की ममता सारी शङ्काओं को दबाए हुए थी। "हे भगवान! अब तुम्हारा ही आसरा है!" यही जपती हुई वह मन्दिर की ओर चली जा रही थी।

मन्दिर के द्वार पर पहुँच कर सुखिया ने जञ्जीर टटोल कर देखी। ताला पड़ा हुआ था। पुजारीजी बरामदे से मिली हुई कोठरी में किवाड

बन्द किए सो रहे थे। चारों ओर अन्धेरा छाया हुआ था। सुखिया चबूतरे के नीचे से एक ईंट उठा लाई और ज़ोर-ज़ोर से ताले पर पटकने लगी। उसके हाथों में न-जाने इतनी शक्ति कहाँ से आ गई थी। दो ही तीन चोटों में ताला और ईंट दोनों टूट कर चौखट पर गिर पड़े। सुखिया ने द्वार खोल दिया और अन्दर जाना ही चाहती थी कि पुजारी किवाड़ खोल कर हड़बड़ाए हुए बाहर निकल आए और 'चोर! चोर!' का गुल मचाते गाँव की ओर दौड़े। जाड़ों में प्रायः पहर रात रहे ही लोगों की नींद खुल जाती है। यह शोर सुनते ही कई आदमी इधर-उधर से लालटेनें लिए हुए निकल पड़े और पूछने लगे—कहाँ है, कहाँ? किधर गया?

पुजारी—मन्दिर का द्वार खुला पड़ा है। मैंने खट-खट की आवाज़ सुनी।

सहसा सुखिया बरामदे से निकलकर चबूतरे पर आई और बोली—चोर नहीं है, मैं हूँ, ठाकुरजी की पूजा करने आई थी। अभी तो अन्दर गई भी नहीं। मार हल्ला मचा दिया।

पुजारी ने कहा—अब अनर्थ हो गया। सुखिया मन्दिर में जाकर ठाकुरजी को भ्रष्ट कर आई।

फिर क्या था, कई आदमी झल्लाए हुए लपके और सुखिया पर लातों और घूँसों की मार पड़ने लगी। सुखिया एक हाथ से बच्चे को पकड़े हुए थी और दूसरे हाथ से उसकी रक्षा कर रही थी। एकाएक एक बलिष्ठ ठाकुर ने उसे इतनी जोर से धक्का दिया कि बालक उसके हाथ से छूट कर जमीन पर गिर पड़ा। मगर न वह रोया, न बोला, न साँस ली। सुखिया भी गिर पड़ी थी। सँभलकर बच्चे को उठाने लगी तो उसके मुख पर नजर पड़ी। ऐसा जान पड़ा मानो पानी में

परछाईं हो। उसके मुँह से एक चीख निकल गई। बच्चे का माथा छूकर देखा। सारी देह ठण्डी हो गई थी। एक लम्बी साँस खींच कर वह उठ खड़ी हुई। उसकी आँखों में आँसू न आए। उसका मुख क्रोध की ज्वाला से तमतमा उठा, आँखों से अङ्गारे बरसने लगे। दोनों मुट्ठियाँ बँध गईं। दाँत पीसकर बोली—पापियो, मेरे बच्चे के प्राण लेकर अब दूर क्यों खड़े हो? मुझे भी क्यों नहीं उसी के साथ मार डालते? मेरे छू लेने से ठाकुरजी को छूत लग गई। पारस को छूकर लोहा सोना हो जाता है, पारस लोहा नहीं हो जाता। मेरे छूने से ठाकुरजी अपवित्र हो जायँगे! मुझे बनाया तो छूत नहीं लगी? लो, अब कभी ठाकुरजी को छूने नहीं आऊँगी। ताले में बन्द करके रक्खो, पहरा बैठा दो। हाय! तुम्हें दया छू भी नहीं गई! तुम इतने कठोर हो! बाल-बच्चेवाले होकर भी तुम्हें एक अभागिनी माता पर दया न आई? तिस पर धरम के ठेकेदार बनते हो। तुम सब-के-सब हत्यारे हो, निपट हत्यारे हो। डरो मत, मैं थाना-पुलीस नहीं जाऊँगी, मेरा न्याय भगवान करेंगे, अब उन्हीं के दरबार में फिरियाद करूँगी।

किसी ने चूँ न की, कोई मिनमिनाया तक नहीं। पाषाण-मूर्तियों की भाँति सब-के-सब सिर झुकाए खड़े रहे।

इतनी देर में सारा गाँव जमा हो गया था। सुखिया ने एक बार फिर बालक के मुँह की ओर देखा। मुँह से निकला—हाय मेरे लाल! फिर वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ी। प्राण निकल गए। बच्चे के लिए प्राण दे दिए!

माता, तू धन्य है! तुझ जैसी निष्ठा, तुझ जैसी श्रद्धा, तुझ जैसा विश्वास देवताओं को भी दुर्लभ है!

निमन्त्रण



पण्डित मोटेराम शास्त्री ने अन्दर जाकर अपने विशाल उदर पर हाथ फेरते हुए यह पद पञ्चम स्वर में गाया—

अजगर करे न चाकरी, पंछी करे न काम,
दास मलूका कह गये, सबके दाता राम!

सोना ने प्रफुल्लित होकर पूछा—कोई मीठी-ताजी खबर है क्या?

शास्त्रीजी ने पैंतरे बदल कर कहा—मार लिया आज। ऐसा ताक कर मारा कि चारों खाने चित। सारे घर का नेवता! सारे घर का! वह बढ़-बढ़कर हाथ मारूँगा कि देखनेवाले दंग रह जायँ। उदर महाराज अभी से अधीर हो रहे हैं।

सोना—कहीं पहले की भाँति अब की भी धोखा न हो। पक्का पोढ़ा कर लिया है न?

मोटेराम ने मूँछें ऐंठते हुए कहा—ऐसा असगुन मुँह से न निकालो। बड़े जप-तप के बाद यह शुभ दिन आया है। जो तैयारियाँ करनी हो कर लो।

सोना—वह तो करूँगी ही। क्या इतना भी नहीं जानती? जन्म भर घास थोड़े ही खोदती रही हूँ। मगर है घर भर का न?

मोटेराम—अब और कैसे कहूँ? पूरे घर भर का है। इसका अर्थ समझ में न आया हो तो मुझसे पूछो। विद्वानों की बात समझना सबका काम नहीं। अगर उनकी बात सभी समझ लें तो उनकी विद्वत्ता का महत्त्व ही क्या रहे। बताओ क्या समझीं। मैं इस समय बहुत ही सार

भाषा में बोल रहा हूँ, मगर तुम नहीं समझ सकीं। बताओ, 'विद्वत्ता' किसे कहते हैं? 'महत्त्व' ही का अर्थ बताओ। घर भर का निमन्त्रण देना क्या दिल्लगी है! हाँ, ऐसे अवसर पर विद्वान् लोग राजनीति से काम लेते हैं और उसका वही आशय निकालते हैं जो अपने अनुकूल हो। मुरादपुर की रानी साहब सात ब्राह्मणों को इच्छापूर्ण भोजन कराना चाहती हैं। कौन कौन महाशय मेरे साथ जायँगे, यह निर्णय करना मेरा काम है। अलगूराम शास्त्री, बेनीराम शास्त्री, छेदीराम शास्त्री, भवानी राम शास्त्री, फेकूराम शास्त्री, और मोटेराम शास्त्री आदि जब इतने आदमी अपने घर ही में तब बाहर कौन ब्राह्मणों को खोजने जाय।

सोना—और सातवाँ कौन है?

मोटे—बुद्धि को दौड़ाओ।

सोना—एक पत्तल घर लेते आना।

मोटे—फिर वही बात कही जिसमें बदनामी हो। छी-छी, पत्तल घर लाऊँ। उस पत्तल में वह स्वाद कहाँ जो यजमान के घर बैठकर भोजन करने में है। सुनो सातवें महाशय हैं पण्डित सोनाराम शास्त्री।

सोना—चलो, दिल्लगी करते हो। भला मैं कैसे जाऊँगी?

मोटे—ऐसे ही कठिन अवसरों पर तो विद्या की आवश्यकता पड़ती है। विद्वान् आदमी अवसर को अपना सेवक बना लेता है, मूर्ख अपने भाग्य को रोता है। सोनादेवी और सोनाराम शास्त्री में क्या अन्तर है, जानती हो? केवल परिधान का। परिधान का अर्थ समझती हो? परिधान 'पहनाव' को कहते हैं। इसी साड़ी को मेरी तरह बाँध लो, मेरी मिरजई पहन लो, ऊपर से चादर ओढ़ लो। पगड़ी मैं बाँध दूँगा। फिर कौन पहचान सकता है!

सोना ने हँसकर कहा—मुझे तो लाज लगेगी।

मोटे—तुम्हें करना ही क्या है? बातें तो हम करेंगे। सोना ने मन ही मन आनेवाले पदार्थों का आनन्द लेकर कहा—बड़ा मजा होगा।

मोटे—बस अब विलम्ब न करो। तैयारी कर चलो।

सोना—कितनी फंकी बना लूँ?

मोटे—यह मैं नहीं जानता। बस यही आदर्श सामने रखो कि अधिक से अधिक लाभ हो।

सहसा सोनादेवी को एक बात याद आ गई। बोली—अच्छा इन बिछुओं को क्या करूँगी?

मोटेराम ने त्योरी चढ़ा कर कहा—इन्हें उठाकर रख देना, और क्या करोगी!

सोना—हाँ जी, क्यों नहीं। उतार कर रख क्यों न दूँगी!

मोटे—तो क्या तुम्हारे बिछुए पहनने ही से मैं जी रहा हूँ। जीता हूँ पौष्टिक पदार्थों के सेवन से। तुम्हारे बिछुओं के पुण्य से नहीं जीता।

सोना—नहीं भाई, मैं बिछुए न उतारूँगी।

मोटेराम ने सोचकर कहा—अच्छा पहने चलो। कोई हानि नहीं। गोवर्द्धनधारी यह बाधा भी हर लेंगे। बस, पाँव में बहुत से कपड़े लपेट लेना। मैं कह दूँगा इन पण्डितजी को पीलपाँव हो गया है। क्यों, कैसी सूझी?

पण्डिताइन ने पतिदेव को प्रशंसा-सूचक नेत्रों से देखकर कहा—[illegible] भर पता नहीं है।

(२)

सन्ध्या-समय पण्डितजी ने पाँचों पुत्रों को बुलाया और उपदेश देने लगे—पुत्रो, कोई काम करने के पहले खूब सोच समझ लेना चाहिए कि

कैसे क्या होगा। मान लो, रानी साहब ने तुम लोगों का पता-ठिकाना पूछना आरम्भ किया तो तुम लोग क्या उत्तर दोगे। यह तो महान्मूर्खता होगी कि तुम सब मेरा नाम लो। सोचो, कितने कलंक और लज्जा की बात होगी कि मुझ-जैसा विद्वान् केवल भोजन के लिए बड़ा कुचक्र रचे। इसलिए तुम सब थोड़ी देर के लिए भूल जाओ कि मेरे पुत्र हो। कोई मेरा नाम न बतलाए। संसार में नामों की कमी नहीं, कोई अच्छा सा नाम चुन कर बता देना। पिता का नाम बदल देने से कोई गाली नहीं लगती। यह कोई अपराध नहीं।

अलगू—आप ही न बता दीजिए।

मोटे—अच्छी बात है, बहुत अच्छी बात है। हाँ इतने महत्व का काम मुझे स्वयं करना चाहिए। अच्छा सुनो—अलगूराम के पिता का नाम है पण्डित केशव पाँडे, खूब याद कर लो। बेनीराम के पिता का नाम है पण्डित मँगरू ओझा, खूब याद रखना। छेदीराम के पिता हैं पण्डित दमड़ी तिवारी। भूलना नहीं। भवानी, तुम गंगू पाँडे बतलाना खूब याद कर लो। अब रहे फेकूराम। तुम बेटा बतलाना सेतूराम पाठक। हो गए सब? हो गया सबका नाम-करण। अच्छा अब मैं परीक्षा लूँगा। होशियार रहना। बोलो अलगू, तुम्हारे पिता का [illegible]

अलगू—पण्डित केशव पाँडे।

"बेनीराम, तुम बताओ।"

"दमड़ी तिवारी"

छेदी—यह तो मेरे पिता का नाम है।

बेनी—मैं तो भूल गया।

मोटे—भूल गए! पण्डित के पुत्र होकर तुम एक नाम भी नहीं याद रख सकते। बड़े दुःख की बात है। मुझे पाँचों नाम याद हैं, तुम्हें

एक नाम भी याद नहीं! सुनो, तुम्हारे पिता का नाम है पण्डित मँगरू ओझा।

पण्डितजी लड़कों की परीक्षा ले ही रहे थे कि उनके परम मित्र पण्डित चिन्तामणिजी ने द्वार पर आवाज दी। पण्डित मोटेराम ऐसे घबराए कि सिर-पैर की सुधि न रही। लड़कों को भगाना ही चाहते थे कि पण्डित चिन्तामणि अन्दर चले आए। दोनों सज्जनों में बचपन से ही गाढ़ी मैत्री थी। दोनों बहुधा साथ-साथ भोजन करने जाया करते थे और यदि पण्डित मोटेराम अव्वल रहते तो पण्डित चिन्तामणि के द्वितीय पद में कोई बाधक न हो सकता था पर आज मोटेरामजी अपने मित्र को साथ नहीं ले जाना चाहते थे। उनको साथ ले जाना अपने घरवालों में किसी एक को छोड़ देना था और इतना महान् आत्मत्याग करने के लिए वे तैयार न थे।

चिन्तामणि ने यह समारोह देखा, तो प्रसन्न होकर बोले—क्यों भाई अकेले ही अकेले! मालूम होता है, आज कहीं गहरा हाथ मारा है।

मोटेराम ने मुँह लटकाकर कहा—कैसी बातें करते हो मित्र। ऐसा तो कभी नहीं हुआ कि मुझे कोई सुअवसर मिला हो और मैंने तुम्हें सूचना न दी हो। कदाचित् कुछ समय ही बदल गया या किसी ग्रह का फेर है। कोई मूठ को भी नहीं बुलाता।

पण्डित चिन्तामणि ने अविश्वास के भाव से कहा—कोई न कोई बात तो मित्र अवश्य है, नहीं तो ये बालक क्यों जमा हैं?

मोटे—तुम्हारी इन्हीं बातों पर मुझे क्रोध आता है। लड़कों की परीक्षा ले रहा हूँ। ब्राह्मण के बालक हैं। चार अक्षर पढ़े बिना इनको कौन पूछेगा?

चिन्तामणि को अब भी विश्वास न आया। उन्होंने सोचा, लड़कों

में ही इस बात का पता लग सकता है। फेकूराम सबसे छोटा था। उसी से पूछा—क्या पढ़ रहे हो बेटा? हमें भी सुनाओ।

मोटेराम ने फेकूराम को बोलने का अवसर न दिया। डरे कि यह तो सारा भंडा फोड़ देगा। बोले, यह अभी क्या पढ़ेगा। दिन भर खेलता है। फेकूराम इतना बड़ा अपराध अपने नन्हे से सिर पर क्यों लेता। बाल सुलभ गर्व से बोला—हमको तो याद है पण्डित सेतूराम पाठक। हम पाठ भी याद कर लें तिस पर भी कहते हैं, हरदम खेलता है!

यह कहते हुए फेकूराम ने रोना शुरू किया।

चिन्तामणि ने बालक को गले से लगा लिया और बोले—नहीं बेटा, तुमने अपना पाठ सुना दिया है। तुम खूब पढ़ते हो। यह सेतूराम पाठक कौन हैं बेटा! मोटेराम ने बिगड़कर कहा—तुम भी लड़कों की बातों में आते हो। सुन लिया होगा किसी का नाम। (फेकू से) जा बाहर खेल!

चिन्तामणि अपने मित्र की घबराहट देखकर समझ गए कि कोई न कोई रहस्य अवश्य है। बहुत दिमाग लड़ाने पर भी सेतूराम पाठक का आशय उनकी समझ में न आया। अपने परम मित्र की इस कुटिलता पर मन में दुखित होकर बोले—अच्छा आप पाठ पढ़ाइए और परीक्षा लीजिए। मैं जाता हूँ। तुम इतने स्वार्थी हो, इसका मुझे गुमान तक न था। आज तुम्हारी मित्रता की परीक्षा हो गई।

पण्डित चिन्तामणि बाहर चले गए। मोटेरामजी के पास उन्हें मनाने के लिए समय न था। फिर परीक्षा लेने लगे।

सोना ने कहा—उनको तो मना लो, रूठे जाते हैं। परीक्षा फिर ले लेना।

मोटे—जब कोई काम पड़ेगा, मना लूँगा। निमन्त्रण की सूचना पाते ही उनका सारा क्रोध शान्त हो जायगा। हाँ भवानी, तुम्हारे पिता का क्या नाम है, बोलो।

भवानी—गंगू पाँडे।

मोटे—और तुम्हारे पिता का नाम फेकू?

फेकू—बता तो दिया, उस पर कहते हैं, पढ़ता नहीं!

मोटे—हमें भी बता दो।

फेकू—सेतूराम पाठक तो है!

मोटे—बहुत ठीक, हमारा लड़का बड़ा राजा है। आज तुम्हें अपने साथ बैठावेंगे और सबसे अच्छा माल तुम्हीं को खिलाएँगे।

सोना—हमें भी तो कोई नाम बता दो।

मोटेराम ने रसिकता से मुसकरा कर कहा—तुम्हारा नाम है पण्डित मोहनसरूप सुकुल।

सोनादेवी ने लजा कर सिर झुका लिया।

(२)

सोनादेवी तो लड़कों को कपड़े पहनाने लगी। उधर फेकू आनन्द की उमङ्ग में घर से बाहर निकला। पण्डित चिन्तामणि रूठ कर तो चले थे, पर कुतूहलवश अभी तक द्वार पर दबके खड़े थे। इन बातों की भनक इतनी देर में उनके कानों में पड़ी उससे यह तो ज्ञात हो गया कि कहीं निमन्त्रण है, पर कहाँ है और कौन कौन से लोग निमन्त्रित हैं, यह कुछ ज्ञात न हुआ था। इतने में फेकू बाहर निकला, तो उन्होंने उसे गोद में उठा लिया और बोले—कहाँ नेवता है बेटा?

अपने जान में तो उन्होंने बहुत धीरे से पूछा था, पर न-जाने कैसे पण्डित मोटेराम के कान में भनक पड़ गई। तुरन्त बाहर निकल आए।

देखा तो चिन्तामणिजी फेकू को गोद में लिए कुछ पूछ रहे हैं। लपक कर लड़के का हाथ पकड़ लिया और चाहा कि उसे अपने मित्र की गोद से छीन लें। मगर चिन्तामणिजी को अभी अपने प्रश्न का उत्तर न मिला था। अतएव वे लड़के का हाथ छुड़ा कर उसे लिए हुए अपने घर की ओर भागे। मोटेराम भी यह कहते हुए उनके पीछे दौड़े—उसे क्यों लिए जाते हो? धूर्त कहीं का, दुष्ट! चिन्तामणि मैं कहे देता हूँ, इसका नतीजा अच्छा न होगा, फिर कभी किसी निमन्त्रण में न ले जाऊँगा। भला चाहते हो तो उसे उतार दो। मगर चिन्तामणि ने एक न सुनी। भागते ही चले गए। उनकी देह अभी सँभाल के बाहर न हुई थी दौड़ सकते थे, मगर मोटेरामजी को एक एक पग आगे बढ़ना दुस्तर हो रहा था। भैंसे की भाँति हाँफते थे और नाना प्रकार के विशेषणों का प्रयोग करते दुल्की चाल से चले जाते थे, और यद्यपि प्रतिक्षण अन्तर बढ़ता जाता था, पर पीछा न छोड़ते थे। अच्छी घुड़-दौड़ थी। नगर के दो महात्मा दौड़ते हुए ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो गैंडे चिड़ियाघर से भाग आए हों। सैकड़ों आदमी तमाशा देखने लगे। कितने ही बालक उनके पीछे तालियाँ बजाते हुए दौड़े। कदाचित् यह दौड़ पण्डित चिन्तामणि के घर ही पर समाप्त होती, पर पण्डित मोटेराम धोती के ढीली हो जाने के कारण उलझकर गिर पड़े। चिन्तामणि ने पीछे फिर कर यह दृश्य देखा, तो रुक गए और फेकूराम से पूछा—क्यों बेटा कहाँ नेवता है?

फेकू—बता दें तो हमें मिठाई दोगे न!

चिन्ता—हाँ देंगे बताओ।

फेकू—रानी के यहाँ।

चिन्ता—कहाँ की रानी?

फेकू—यह मैं नहीं जानता। कोई बड़ी रानी हैं।

नगर में कई बड़ी-बड़ी रानियाँ थीं। पंडितजी ने सोचा सभी रानियों के द्वार पर चक्कर लगाऊँगा। जहाँ भोज होगा, वहाँ कुछ भीड़भाड़ होगी ही, पता चल जायगा। यह निश्चय करके वे लौट पड़े। सहानुभूति प्रकट करने में अब कोई बाधा न थी। मोटेरामजी के पास आए, तो देखा कि वे पड़े कराह रहे हैं। उठने का नाम नहीं लेते। घबराकर पूछा—गिर कैसे पड़े मित्र, यहाँ कहीं गढ़ा भी तो नहीं है!

मोटे—तुमसे क्या मतलब! तुम लड़के को ले जाओ, जो कुछ पूछना चाहो पूछो।

चिन्ता—मैं यह कपट-व्यवहार नहीं करता। दिल्लगी की थी, तुम बुरा मान गए। ले उठ तो बैठो राम का नाम लेके। मैं सच कहता हूँ, मैंने कुछ नहीं पूछा।

मोटे—चल झूठा!

चिन्ता—जनेऊ हाथ में लेकर कहता हूँ।

मोटे—तुम्हारी शपथ का विश्वास नहीं।

चिन्ता—तुम मुझे इतना धूर्त समझते हो!

मोटे—इससे कहीं अधिक। तुम गंगा में डूब कर शपथ खाओ तो भी मुझे विश्वास न आए।

चिन्ता—दूसरा यह बात कहता तो मूँछ उखाड़ लेता।

मोटे—तो फिर आ जाओ!

चिन्ता—पहले पंडिताइन से पूछ आओ।

मोटेराम यह अमूलक व्यंग्य न सह सके। चट उठ बैठे और पंडित चिन्तामणि का हाथ पकड़ लिया। दोनों मित्रों में मल्लयुद्ध होने लगा। दोनों हनुमानजी की स्तुति कर रहे थे और इतने जोर से गरज गरज कर

मानो सिंह दहाड़ रहे हों। बस ऐसा जान पड़ता था कि मानो दो पीपे आपस में टकरा रहे हैं।

मोटे—महाबली विक्रम बजरंगी।

चिन्ता—भूत पिशाच निकट नहिं आवे।

मोटे—जय जय जय हनुमान गुसाईं।

चिन्ता—प्रभु, रखिए लाज हमारी।

मोटे—(बिगड़कर) यह हनुमान चालीसा में नहीं है?

चिन्ता—यह हमने स्वयं रचा है। क्या तुम्हारी तरह की यह रटंत विद्या है! जितना कहो उतना रच दें।

मोटे—अजी, हम रचने पर आ जायँ तो एक दिन में एक लाख स्तुतियाँ रच डालें, किन्तु इतना अवकाश किसे है!

दोनों महात्मा अलग खड़े होकर अपने अपने रचना-कौशल की डींगें मार रहे थे, मल्ल युद्ध शास्त्रार्थ का रूप धारण करने लगा, जो विद्वानों के लिए उचित है। इतने में किसी ने चिन्तामणिजी के घर जाकर कह दिया कि पण्डित मोटेराम और पण्डित चिन्तामणिजी में बड़ी लड़ाई हो रही है। चिन्तामणिजी तीन महिलाओं के स्वामी थे। कुलीन ब्राह्मण थे, पूरे बीस बिस्वे। उस पर विद्वान् भी उच्च कोटि के, दूर-दूर तक यज-मानी थी। ऐसे पुरुषों को सब अधिकार है। कन्या के साथ साथ जब प्रचुर दक्षिणा भी मिलती हो तब कैसे इनकार किया जाय। इन तीनों महिलाओं का सारे महल्ले में आतङ्क छाया हुआ था। पण्डितजी ने उनके नाम बहुत ही रसीले रक्खे थे। बड़ी स्त्री को 'अमिरती', मँझली को 'गुलाबजामुन' और छोटी को 'मोहनभोग' कहते थे। पर मुहल्लेवालों के लिए तीनों महिलाएँ त्रयताप से कम न थीं। घर में नित्य आँसुओं की नदी बहती रहती—खून की नदी तो पण्डितजी ने भी कभी नहीं

बहाई, अधिक से अधिक शब्दों की ही नदी बहाई थी—पर मजाल न थी कि बाहर का आदमी किसी को कुछ कह जाय। सङ्कट के समय तीनों एक हो जाती थीं। यह पण्डितजी के नीति-चातुर्य का सुफल था। ज्यों ही खबर मिली कि पण्डित चिन्तामणि पर सङ्कट पड़ा हुआ है, तीनों त्रिदोषों की भाँति कुपित होकर घर से निकलीं और उनमें जो अन्य दोनों-जैसी मोटी नहीं थी सबसे पहले समरभूमि के समीप जा पहुँची। पण्डित मोटेरामजी ने उसे आते देखा, तो समझ गए कि अब कुशल नहीं। अपना हाथ छुड़ाकर बगटुट भागे, पीछे फिर कर भी न देखा। चिन्तामणिजी ने बहुत ललकारा, पर मोटेराम के कदम न रुके।

चिन्ता—अजी भागे क्यों, ठहरो, कुछ मजा तो चखते जाओ!

मोटे—मैं हार गया भाई, हार गया।

चिन्ता—अजी कुछ दक्षिणा तो लेते जाओ।

मोटेराम ने भागते हुए कहा—दया करो भाई, दया करो।

(४)

आठ बजते-बजते पण्डित मोटेराम ने स्नान और पूजा करके कहा—अब विलम्ब नहीं करना चाहिए, फंकी तैयार है न?

सोना—फंकी लिए तो कब से बैठी हूँ, तुम्हें तो जैसे किसी बात की सुध ही नहीं रहती। रात को कौन देखता है कि कितनी देर पूजा करते हो।

मोटे—मैं तुमसे एक नहीं, हजार बार कह चुका कि मेरे कामों में मत बोला करो। तुम नहीं समझ सकतीं कि मैंने इतना विलम्ब क्यों किया। तुम्हें ईश्वर ने इतनी बुद्धि ही नहीं दी। जल्दी जाने से अपमान होता है। यजमान समझता है, लोभी है, भुक्खड़ है। इसी लिए चतुर लोग विलम्ब किया करते हैं, जिसमें यजमान समझे कि पण्डितजी को

इसकी सुध ही नहीं है, भूल गए होंगे बुलाने को आदमी भेजें। इस प्रकार जाने में जो मान-महत्त्व है वह मरभुखों की तरह जाने में क्या कभी हो सकता है? मैं बुलावे की प्रतीक्षा कर रहा हूँ। कोई न कोई आता ही होगा। लाओ थोड़ी फंकी। बालकों को खिला दी है न?

सोना—उन्हें तो मैंने साँझ ही को खिला दी थी।

मोटे—कोई सोया तो नहीं?

सोना—आज भला कौन सोएगा। सब भूख-भूख चिल्ला रहे थे, तो मैंने एक पैसे का चबेना मँगवा दिया। सब के-सब ऊपर बैठे खा रहे हैं। सुनते नहीं हो, मारपीट हो रही है।

मोटेराम ने दाँत पीस कर कहा—जी चाहता है कि तुम्हारी गरदन पकड़ कर ऐंठ दूँ। भला इस बेला चबेना मँगाने का क्या काम था? चबेना खा लेंगे तो वहाँ क्या तुम्हारा सिर खाएँगे। छी! छी! जरा भी बुद्धि नहीं!

सोना ने अपराध स्वीकार करते हुए कहा—हाँ भूल तो हुई, पर सब-के सब इतना कोलाहल मचाए हुए थे कि सुना नहीं जाता था।

मोटे—रोते ही थे न, रोने देतीं। रोने से उनका पेट न भरता, बल्कि और भूख खुल जाती।

सहसा एक आदमी ने बाहर से आवाज दी—पण्डितजी, महारानी बुला रही हैं, और लोगों को लेकर जल्दी चलो।

पण्डितजी ने पत्नी की ओर गर्व से देखकर कहा—देखा, इसे निमन्त्रण कहते हैं। अब तैयारी करनी चाहिए।

बाहर आकर पण्डितजी ने उस आदमी से कहा—तुम एक क्षण और न आते तो मैं कथा सुनाने चला गया होता। मुझे बिल्कुल याद न थी। चलो हम बहुत शीघ्र आते हैं।

(७)

नौ बजते-बजते पण्डित मोटेराम बाल-गोपाल सहित रानी साहब के द्वार पर जा पहुँचे। रानी बड़ी विशालकाय तेजस्विनी महिला थीं। इस समय वे कारचोबीदार तकिया लगाए तख्त पर बैठी हुई थीं। दो आदमी हाथ बाँधे पीछे खड़े थे। बिजली का पंखा चल रहा था। पण्डितजी को देखते ही रानी ने तख्त से उठ कर चरण-स्पर्श किया, और इस बालक-मंडली को देख कर मुसकराती हुई बोलीं—इन बच्चों को आप कहाँ से पकड़ लाए?

मोटे—करता क्या, सारा नगर छान मारा, पर किसी पण्डित ने आना स्वीकार न किया। कोई किसी के यहाँ निमन्त्रित है, कोई किसी के यहाँ। तब तो मैं बहुत चकराया। अन्त में मैंने उनसे कहा—अच्छा आप नहीं चलते तो हरि इच्छा, लेकिन ऐसा कीजिए कि मुझे लज्जित न होना पड़े। तब जबरदस्ती प्रत्येक के घर से जो बालक मिला उसे पकड़ लाना पड़ा। क्यों फेकूराम, तुम्हारे पिताजी का क्या नाम है?

फेकूराम ने गर्व से कहा—पण्डित सेतूराम पाठक।

रानी—बालक तो बड़ा होनहार है।

और बालकों को भी उत्कण्ठा हो रही थी कि हमारी परीक्षा भी ली जाय, लेकिन जब पण्डितजी ने उनसे कोई प्रश्न न किया, उधर रानी ने फेकूराम की प्रशंसा कर दी, तब तो वे अधीर हो उठे। भवानी बोला—मेरे पिता का नाम है पण्डित गंगू पाँडे।

छेदी बोला—मेरे पिता का नाम है दमड़ी तिवारी।

बेनीराम ने कहा—मेरे पिता का नाम है पण्डित मँगरू ओझा।

अलगूराम समझदार था। चुपचाप खड़ा रहा। रानी ने उससे पूछा—तुम्हारे पिता का क्या नाम है जी?

अलगूराम को इस वक्त पिता का निर्दिष्ट नाम याद न आया। न यही सूझी कि कोई और नाम ले ले। हतबुद्धि-सा खड़ा रहा। पण्डित मोटेराम ने जब उसकी ओर दाँत पीस कर देखा तब रहे-सहे हवास भी गायब हो गए।

फेकू ने कहा—हम बता दें। भैया भूल गए।

रानी ने आश्चर्य से पूछा—क्या अपने पिता का नाम भूल गया? यह तो विचित्र बात देखी।

मोटेराम ने अलगू के पास जाकर कहा—कैसे है। अलगूराम बोल उठा—केशव पाँडे।

रानी—तो अब तक क्यों चुप था?

मोटे—कुछ ऊँचा सुनता है सरकार!

रानी—मैंने सामान तो बहुत-सा मँगवा रक्खा है। सब खराब होगा। लड़के क्या खाएँगे!

मोटे—सरकार इन्हें बालक न समझें। इनमें जो सबसे छोटा है वह दो पत्तल खाकर उठेगा।

(६)

जब सामने पत्तल पड़ गए और भंडारी चाँदी के थालों में एक से एक उत्तम पदार्थ ला लाकर परसने लगा तब पंडित मोटेरामजी की आँखें खुल गईं। इन्हें आए-दिन निमन्त्रण मिलते रहते थे, पर ऐसे अनुपम पदार्थ कभी सामने न आए थे। घी की ऐसी सोंधी सुगन्ध इन्हें कभी न मिली थी। प्रत्येक वस्तु से केवड़े और गुलाब की लपटें उड़ रही थीं घी टपक रहा था। पण्डितजी ने सोचा, ऐसे पदार्थों से कभी पेट भर सकता है! मनों खा जाऊँ, फिर भी और खाने को जी चाहे।

देवतागण इनसे उत्तम और कौनसे पदार्थ खाते होंगे ? इनसे उत्तम पदार्थों की तो कल्पना भी नहीं हो सकती ।

पण्डितजी को इस वक्त अपने परममित्र पण्डित चिन्तामणि की याद आई । अगर वे होते तो रंग जम जाता । उनके बिना रंग फीका रहेगा । यहाँ दूसरा कौन है, जिससे लाग-डाट करूँ । लड़के दो दो पत्तलों में चें बोल जायँगे । सोना कुछ साथ देगी, मगर कब तक ? चिन्तामणि के बिना रंग न गठेगा । वे मुझे ललकारेंगे, मैं उन्हें ललकारूँगा । उस उमंग में पत्तलों की कौन गिनती । हमारी देखा देखी लड़के भी डट जायँगे । ओह बड़ी भूल हो गई । यह ख्याल मुझे पहले न आया । रानी साहब से कहूँ, बुरा तो न मानेंगी । ऊँह ! जो कुछ हो, एक बार जोर तो लगाना ही चाहिए । तुरन्त खड़े होकर रानी साहब से बोले—सरकार ! आज्ञा हो तो कुछ कहूँ ।

रानी—कहिए-कहिए महाराज, क्या किसी वस्तु की कमी है ?

मोटे—नहीं सरकार, किसी बात की नहीं । ऐसे उत्तम पदार्थ तो मैंने कभी देखे भी न थे । सारे नगर में आपकी कीर्ति फैल जायगी । मेरे एक परम मित्र पण्डित चिन्तामणिजी हैं, आज्ञा हो तो उन्हें भी बुला लूँ । बड़े विद्वान् कर्मनिष्ठ ब्राह्मण हैं । उनके जोड़ का इस नगर में दूसरा नहीं है । मैं उन्हें निमन्त्रण देना भूल गया । अभी सुध आई है ।

रानी—आपकी इच्छा हो तो बुला लीजिए । मगर आने जाने में देर होगी और भोजन परोसा गया है ?

मोटे—मैं अभी आता हूँ सरकार, दौड़ता हुआ जाऊँगा ।

रानी—मेरी मोटर ले लीजिए ।

जब पण्डितजी चलने को तैयार हुए तब सोना ने कहा—तुम्हें आज क्या हो गया है जी ? उसे क्यों बुला रहे हो ?

मोटे—कोई साथ देनेवाला भी तो चाहिए ?

सोना—मैं क्या तुमसे दब जाती ?

पण्डितजी ने मुसकरा कर कहा—तुम जानती नहीं, घर की बात और है, दङ्गल की बात और। पुराना खिलाड़ी मैदान में जाकर जितना नाम करेगा उतना नया पट्ठा नहीं कर सकता। वहाँ बल का काम नहीं, साहस का काम है। बस यहाँ भी वही हाल समझो। आज झण्डे गाड़ दूँगा। समझ लेना।

सोना—कहीं लड़के सो जायँ तो ?

पण्डित—और भूख खुल जायगी। जगा तो मैं लूँगा।

सोना—देख लेना आज वह तुम्हें पछाड़ेगा। उसके पेट में तो सनीचर है।

पण्डित—बुद्धि की सर्वत्र प्रधानता रहती है। यह न समझो कि भोजन करने की कोई विद्या ही नहीं। इसका भी एक शास्त्र है, जिसे मथुरा के शनीचरानन्द महाराज ने रचा है। चतुर आदमी थोड़ी-सी जगह में गृहस्थी का सब सामान रख देता है। अनाड़ी बहुत सी जगह में भी यही सोचता रहता है कि कौन वस्तु कहाँ रक्खूँ। गँवार आदमी पहले से ही हबक हबक कर खाने लगता है और चट एक लोटा पानी पीकर अफर जाता है। चतुर आदमी बड़ी सावधानी से खाता है, उसको कौर नीचे उतारने के लिए पानी की आवश्यकता नहीं पड़ती। देर तक भोजन करते रहने से वह सुपाच्य भी हो जाता है। चिन्तामणि मेरे सामने क्या ठहरेगा ?

(७)

चिन्तामणिजी अपने आँगन में उदास बैठे हुए थे। जिस प्राणी को वह अपना परम हितैषी समझते थे, जिसके लिए वे अपने प्राण तक देने

को तैयार रहते थे, उसी ने आज उनके साथ बेवफाई की। बेवफाई ही नहीं की, उन्हें उठाकर दे मारा। पण्डित मोटेराम के घर से तो कुछ जाता न था। अगर वे चिन्तामणिजी को भी साथ लेते जाते तो क्या रानी साहब उन्हें दुत्कार देतीं। स्वार्थ के आगे कौन किसको पूछता है? उन अमूल्य पदार्थों की कल्पना करके चिन्तामणि के मुँह से लार टपकी पड़ती थी। अब सामने पत्तल आ गए होंगे! अब थालों में अमिरतियाँ लिए भंडारीजी आए होंगे! ओहो, कितनी सुन्दर, कोमल, कुरकुरी, रसीली, अमिरतियाँ होंगी। अब बेसन के लड्डू आए होंगे। ओहो, कितने सुडौल मेवों से भरे हुए, घी से तरातर लड्डू होंगे। मुँह में रखते ही रखते घुल जाते होंगे, जीभ भी न डुलानी पड़ती होगी। अहा! अब मोहनभोग आया होगा! हाय रे दुर्भाग्य! मैं यहाँ पड़ा सड़ रहा हूँ और वहाँ यह बहार है! बड़े निर्दयी हो मोटेराम, तुमसे इस निष्ठुरता की आशा न थी।

अमिरतीदेवी बोलीं—तुम इतना दिल क्यों छोटा करते हो। पितृपक्ष तो आ ही रहा है, ऐसे-ऐसे न-जाने कितने नेवते आवेंगे।

चिन्तामणि—आज किसी अभागे का मुँह देखकर उठा था। लाओ तो पत्रा, देखूँ, कैसा मुहूर्त है। अब नहीं रहा जाता। सारा नगर छान डालूँगा, कहीं तो पता चलेगा, नासिका तो दहनी चल रही है!

एकाएक मोटर की आवाज आई। उसके प्रकाश से पण्डितजी का सारा घर जगमगा उठा। वे खिड़की से झाँकने लगे, तो मोटेराम को मोटर से उतरते देखा। एक लम्बी साँस लेकर चारपाई पर गिर पड़े। मन में कहा कि दुष्ट भोजन करके अब यहाँ मुझसे बखान करने आया है।

अमिरती देवी ने पूछा—कौन है डाढ़ीजार, इतनी रात को जगावत है!

मोटे—हम हैं हम! गाली न दो।

अमिरती—अरे दुर मुँहझौंसे, तै कौन है ? कहत है हम हैं हम। को जाने तैं कौन हस ?

मोटे—अरे हमारी बोली नहीं पहचानती हो। खूब पहचान लो। हम हैं, तुम्हारे देवर।

अमिरती—ऐ दुर तोरे मुँह में लूका लागे। तोर लहास उठे। हमार देवर बनत है डाढ़ीजार !

मोटे—अरे हम हैं मोटेराम शास्त्री। क्या इतना भी नहीं पहचानतीं ? चिन्तामणिजी घर में हैं ?

अमिरती ने किवाड़ खोल दिया और तिरस्कार भाव से बोली—अरे तुम थे ! तो नाम क्यों नहीं बताते थे ! जब इतनी गालियाँ खा लीं तो बोल निकला। क्या है क्या ?

मोटे—कुछ नहीं, चिन्तामणिजी को शुभ संवाद देने आया हूँ। रानी साहब ने उन्हें याद किया है।

अमिरती—भोजन के बाद बुला कर क्या करेंगी ?

मोटे—अभी भोजन कहाँ हुआ है ? मैंने जब इनकी विद्या, कर्मनिष्ठा, सद्विचार की प्रशंसा की तब मुग्ध हो गईं। मुझसे कहा कि उन्हें मोटर पर लाओ। क्या सो गए ?

चिन्तामणि चारपाई पर पड़े-पड़े सुन रहे थे। जी में आता था, चलकर मोटेराम के चरणों पर गिर पड़ें। उनके विषय में अब तक जितने कुत्सित विचार उठे थे, सब लुप्त हो गए। ग्लानि का आविर्भाव हुआ। रोने लगे।

"अरे भाई, आते हो या सोते ही रहोगे"—यह कहते हुए मोटेराम उनके सामने जाकर खड़े हो गए।

चिन्ता—तब क्यों न ले गए। जब इतनी दुर्दशा कर ली तब आए। अभी तक पेट में दर्द हो रहा है।

मोटे—अजी वह तर माल खिलाऊँगा कि सारा दर्द-वर्द भाग जायगा। तुम्हारे यजमानों को भी ऐसे पदार्थ मयस्सर न हुए होंगे। आज तुम्हें बदकर पछाड़ूँगा।

चिन्ता—तुम बेचारे मुझे क्या पछाड़ोगे। सारे शहर में तो कोई ऐसा माई का लाल दिखाई नहीं देता। हमें शनीचर का इष्ट है।

मोटे—अजी यहाँ बरसों तपस्या की है। भंडारे का भंडारा साफ कर दें और इच्छा ज्यों की त्यों बनी रहे। बस यही समझ लो कि भोजन करके हम खड़े नहीं हो सकते। चलना तो दूसरी बात है। गाड़ी पर लद कर आते हैं।

चिन्ता—तो यह कौन बड़ी बात है। यहाँ तो टिकठी पर उठा कर लाए जाते हैं। ऐसी ऐसी डकारें लेते हैं कि जान पड़ता है, बम गोला छूट रहा है। एक बार खोफिया पुलिस ने बम गोले के सन्देह में घर की तलाशी तक ली थी।

मोटे—झूठ बोलते हो। कोई इस तरह नहीं डकार सकता।

चिन्ता—अच्छा तो आकर सुन लेना। डर कर भाग न जाओ, तो सही।

एक क्षण में दोनों मित्र मोटर पर बैठे और मोटर चली।

(८)

रानी के पास पहुँच जाऊँ और कह दूँ कि पण्डित को ले आया, और चिन्तामणि चाहते थे कि पहले मैं रानी के सम्मुख जा पहुँचूँ और अपना रंग जमा दूँ। दोनों क़दम बढ़ाने लगे। चिन्तामणि हलके होने के कारण ज़रा आगे बढ़ गए, तो पण्डित मोटेराम दौड़ने लगे। चिन्तामणि भी दौड़ पड़े। घुड़दौड़ सी होने लगी। मालूम होता था कि दो गैंडे भागे जा रहे हैं। अन्त को मोटेराम ने हाँफते हुए कहा—राजसभा में दौड़ते हुए जाना उचित नहीं।

चिन्ता—तो तुम धीरे धीरे आओ न, दौड़ने को कौन कहता है।

मोटे—ज़रा रुक जाओ, मेरे पैर में काँटा गड़ गया है।

चिन्ता—तो निकाल लो, तब तक मैं चलता हूँ।

मोटे—मैं न कहता तो रानी तुम्हें पूछती भी न!

मोटेराम ने बहुत बहाने किए, पर चिन्तामणि ने एक न सुनी। भवन में पहुँचे। रानी साहब बैठी कुछ लिख रही थीं और रह-रह कर द्वार की ओर ताक लेती थीं कि सहसा पण्डित चिन्तामणि उनके सामने आ खड़े हुए और यों स्तुति करने लगे।

हे हे यशोदे तू बालकेशव, मुरार नामा

रानी—क्या मतलब है? अपना मतलब कहो।

चिन्ता—सरकार को आशीर्वाद देता हूँ। सरकार ने इस दास चिन्तामणि को निमन्त्रित करके जितना अनुग्रसित (अनुग्रहीत) किया है इसका बखान शेषनाग अपनी सहस्र जिह्वा द्वारा भी नहीं कर सकते।

रानी—तुम्हारा ही नाम चिन्तामणि है! वे कहाँ रह गए पण्डित मोटेराम शास्त्री?

चिन्ता—पीछे आ रहा है सरकार, मेरे बराबर आ सकता है भला! मेरा तो शिष्य है।

रानी—अच्छा तो वे आपके शिष्य हैं!

चिन्ता—मैं अपने मुँह से अपनी बड़ाई नहीं करना चाहता। सरकार! विद्वानों को नम्र होना चाहिए। पर जो यथार्थ है वह तो सारा संसार जानता है। सरकार मैं किसी से वाद विवाद नहीं करता, यह मेरा अनुशीलन (अभीष्ट) नहीं। मेरे शिष्य भी बहुधा मेरे गुरु बन जाते हैं, पर मैं किसी से कुछ नहीं कहता। जो सत्य है वह सभी जानते हैं।

इतने में पण्डित मोटेराम भी गिरते-पड़ते हाँफते हुए आ पहुँचे और यह देखकर कि चिन्तामणि भद्रता और सभ्यता की मूर्ति बने खड़े हैं वे देवोपम शान्ति के साथ खड़े हो गए।

रानी—पण्डित चिन्तामणि बड़े साधु प्रकृति विद्वान् हैं। आप उनके शिष्य हैं, फिर भी वे आपको अपना शिष्य नहीं कहते।

मोटे—सरकार, मैं इनका दासानुदास हूँ।

चिन्ता—जगतारिणी, मैं इनका चरण रज हूँ।

मोटे—रिपुदलसंहारिणीजी, मैं इनके द्वार का कूकर हूँ।

रानी—आप दोनों सज्जन पूज्य हैं। एक से एक बड़े हुए। चलिए भोजन कीजिए।

(७)

दो वीरों की भाँति आमने-सामने डटे बैठे हैं। दोनों अपना अपना पुरुषार्थ दिखाने के लिए अधीर हो रहे थे।

चिन्ता—भंडारीजी, तुम परोसने में बड़ा विलम्ब करते हो। क्या भीतर जाकर सोने लगते हो?

भंडारी—चुपाई मारे बैठे रहो, जौन कुछ होई, सब आय जाई। घबड़ाए का नहीं होत। तुम्हारे सिवाय और कोई जिवैया नाहीं बैठा है।

मोटे—भैया, भोजन करने के पहले कुछ देर सुगन्ध का स्वाद तो लो।

चिन्ता—अजी सुगन्ध गया चूल्हे में, सुगन्ध देवता लोग लेते हैं। अपने लोग तो भोजन करते हैं।

मोटे—अच्छा बताओ, पहले किस चीज पर हाथ फेरोगे?

चिन्ता—मैं जाता हूँ, भीतर से सब चीजें एकसाथ लिए आता हूँ।

मोटे—धीरज धरो भैया, सब पदार्थों को आ जाने दो। ठाकुरजी का भोग तो लग जाय।

चिन्ता—तो बैठे क्यों हो, तब तक भोग ही लगाओ। एक बाधा तो मिटे। नहीं, लाओ, मैं चटपट भोग लगा दूँ। व्यर्थ देर करोगे।

इतने में रानी आ गईं। चिन्तामणि सावधान हो गए। रामायण की चौपाइयों का पाठ करने लगे—

रहा एक दिन अवधि अधारा। समुझत मन दुख भयउ अपारा॥
कौसलेस दसरथ के जाये। हम पितु बचन मानि बन आये॥
करटि पन्टि लखा कपि जारी। कूद परा तब सिंधु मझारी॥
जेहि पर जाकर सत्य सनेहू। सो तेहि मिले न कछु सन्देहू॥
रामदूत के बचन सुहाए। सुनि हनुमान हृदय अति भाए॥

पण्डित मोटेराम ने देखा कि चिन्तामणि का रङ्ग जमता जाता है,

तो वे भी अपनी विद्वत्ता प्रकट करने को व्याकुल हो गए। बहुत दिमाग लड़ाया, पर कोई श्लोक, कोई मन्त्र, कोई कवित्त याद न आया। तब उन्होंने सीधे सीधे राम-नाम का पाठ आरम्भ कर दिया।

"राम भज, राम भज, राम भज रे मन"—उन्होंने इतने उच्च स्वर से जाप करना शुरू किया कि चिन्तामणि को भी अपना स्वर ऊँचा करना पड़ा। मोटेराम और जोर से गरजने लगे। इतने में भंडारीजी ने कहा—महाराज अब भोग लगाइए। यह सुनकर उस प्रतिस्पर्द्धा का अन्त हुआ। भोग की तैयारी हुई। बालवृन्द सजग हो गए। किसी ने घण्टा लिया, किसी ने घड़ियाल, किसी ने शङ्ख, किसी ने करताल। चिन्तामणि ने आरती उठा ली। मोटेराम मन में ऐंठकर रह गए। रानी के समीप जाने का यह अवसर उनके हाथ से निकल गया।

पर यह किसे मालूम था कि विधि वाम उधर कुछ और ही कुटिल क्रीड़ा कर रहा है! आरती समाप्त हो गई थी, भोजन शुरू होने को ही था कि एक कुत्ता न-जाने किधर से आ निकला। पंडित चिन्तामणि के हाथ से लड्डू थाल में गिर पड़ा। पण्डित मोटेराम अचकचा कर रह गए। सर्वनाश!

चिन्तामणि ने मोटेराम से इशारे में कहा—अब क्या कहते हो मित्र, कोई उपाय निकालो, यहाँ तो कमर टूट गई।

मोटेराम ने लम्बी साँस खींचकर कहा—अब क्या हो सकता है? यह ससुर आया किधर से?

रानी पास ही खड़ी थीं, उन्होंने कहा—अरे, कुत्ता किधर से आ गया? यह तो रोज बँधा रहता था, आज कैसे छूट गया। अब तो रसोई भ्रष्ट हो गई।

चिन्ता—सरकार, आचार्यों ने इस विषय में...

मोटे—कोई हर्ज नहीं है सरकार, कोई हर्ज नहीं है !

सोना—भाग्य फूट गया। जोहत-जोहत आधी रात बीत गई, तबई बिपत फाट परी।

चिन्ता—सरकार, स्वान के मुख में अमृत.....

मोटे—तो अब आज्ञा हो तो चलें।

रानी—हाँ और क्या। मुझे बड़ा दुःख है कि इस कुत्ते ने आज इतना बड़ा अनर्थ कर डाला। तुम बड़े गुस्ताख हो गए टामी। भंडारी, ये पत्तल उठाकर मेहतर को दे दो।

चिन्ता—(सोना से) छाती फटी जाती है।

सोना को बालकों पर दया आई। बेचारे इतनी देर देवोपम धैर्य के साथ बैठे थे। बस चलता तो कुत्ते का गला घोंट देती। बोली—लरकन का तो दोष नाहीं परत है। इन्हें काहे नाहीं खवाय देत कोऊ।

चिन्ता—मोटेराम महादुष्ट है। इनकी बुद्धि भ्रष्ट हो गई है।

सोना—ऐसे तो बड़े विद्वान् बनत रहे। अब काहे नाहीं बोलत बनत। मुँह में दही जम गया जीभै नाहीं खुलत है।

चिन्ता—सत्य कहता हूँ, रानी को चकमा दे देता इस दुष्ट के मारे सब खेल बिगड़ गया। सारी अभिलाषा मन में रह गई। ऐसे पदार्थ अब कहाँ मिल सकते हैं ?

सोना—सारी मनुसई निकस गई। घर ही में गरजै के सेर हैं।

रानी ने भंडारी को बुलाकर कहा—इन छोटे-छोटे तीनों बच्चों को खिला दो। ये बेचारे क्यों भूखों मरें क्यों फेकूराम, मिठाई खाओगे।

फेकू—इसी लिए तो आए हैं।

रानी—कितनी मिठाई खाओगे ?

फेकू—बहुत सी, (हाथों से बता कर) इतनी !

रानी—अच्छी बात है। जितनी खाओगे उतनी मिलेगी। पर जो बात मैं पूछूँ वह बतानी पड़ेगी। बताओगे न?

फेकू—हाँ बताऊँगा, पूछिए।

रानी—झूठ बोले तो एक मिठाई भी न मिलेगी, समझ गए।

फेकू—मत दीजिएगा। मैं झूठ बोलूँगा ही नहीं।

रानी—अपने पिता का नाम बताओ।

मोटे—बालकों को हरदम सब बातें स्मरण नहीं रहतीं। उसने तो आते ही आते बता दिया था।

रानी—मैं फिर पूछती हूँ, इसमें आपकी क्या हानि है?

चिन्ता—नाम पूछने में तो कोई हर्ज नहीं।

मोटे—तुम चुप रहो चिन्तामणि, नहीं तो ठीक न होगा। मेरे क्रोध को अभी तुम नहीं जानते। दबा बैठूँगा तो रोते भागोगे।

रानी—आप तो व्यर्थ इतना क्रोध कर रहे हैं। बोलो फेकूराम, चुप क्यों हो। फिर मिठाई न पाओगे।

चिन्ता—महारानी की इतनी दया-दृष्टि तुम्हारे ऊपर है, बता दो बेटा!

मोटे—चिन्तामणिजी, मैं देख रहा हूँ तुम्हारे अदिन आए हैं। मैं नहीं बताना तुम्हारा मामला। आप वहाँ से बड़े गैरतवाद बन के।

सोना—अरे हाँ, लड़कन से है सब पँवारा मन का मतलब। तुमके जब पहे मिठाई देव, न धरम परे न देव। कहा कि बाप का नाम बताओ तब मिठाई देव।

फेकूराम ने धीरे से कोई नाम लिया। इस पर पण्डितजी ने उन्हें इतने जोर से डाँटा कि उनकी आधी बात मुँह में ही रह गई।

रानी—क्यों डाँटते हो, उसे बोलने क्यों नहीं देते। बोलो बेटा!

मोटे—आप हमें अपने द्वार पर बुलाकर हमारा अपमान कर रही हैं।

चिन्ता—इसमें अपमान की तो कोई बात नहीं है भाई।

मोटे—अब हम इस द्वार पर कभी न आवेंगे। यहाँ सत्पुरुषों का अपमान किया जाता है!

अलगू—कहिए तो मैं चिन्तामणि को एक पटकन दूँ।

मोटे—नहीं बेटा, दुष्टों को परमात्मा स्वयं दण्ड देता है। चलो यहाँ से चलें। अब भूल कर भी यहाँ न आवेंगे। खिलाना न पिलाना, द्वार पर बुलाकर ब्राह्मणों का अपमान करना। तभी तो देश में आग लगी हुई है।

चिन्ता—मोटेराम, महारानी के सामने तुम्हें इतनी कटु बातें न करनी चाहिए।

मोटे—बस चुप ही रहना, नहीं तो सारा क्रोध तुम्हारे ही सिर जायगा। माता पिता का पता नहीं, ब्राह्मण बनने चले हैं। तुम्हें कौन कहता है ब्राह्मण।

चिन्ता—जो कुछ मन चाहे कह लो। चन्द्रमा पर थूकने से थूक अपने ही मुँह पर पड़ता है। जब तुम धर्म का एक लक्षण भी नहीं जानते तब तुमसे क्या बातें करूँ। ब्राह्मण को धैर्य रखना चाहिए।

मोटे—पेट के गुलाम हो। ठकुरसोहाती कर रहे हो कि एकाध पत्तल मिल जाय। यहाँ मर्यादा का पालन करते हैं।

चिन्ता—कह तो दिया भाई कि तुम बड़े, मैं छोटा, अब और क्या कहूँ। तुम सच कहते होगे मैं ब्राह्मण नहीं, शूद्र हूँ।

रानी—ऐसा न कहिए चिन्तामणिजी, आप यदि जन्म से शूद्र भी हों तो इतने गुण रखते हुए आप ब्राह्मण ही हैं।

मोटे—अच्छा चिन्तामणि, इसका बदला न लिया तो कहना।

यह कहते हुए पण्डित मोटेराम बाल वृन्द के साथ बाहर चले आए और भाग्य को कोसते हुए घर को चले। बार बार पछताते थे कि इस दुष्ट चिन्तामणि को क्यों बुला लाया।

सोना ने कहा—भण्डा फूटत-फूटत बच गया। फेकुआ नाँव बताय देत। काहे रे, अपने बाप केर नाँव बताय देते!

फेकू—और क्या। वे तो सच-सच पूछती थीं।

मोटे—चिन्तामणि ने रंग जमा लिया अब आनन्द से भोजन करेगा।

सोना—तुम्हार एको विद्या काम न आई। ऊ तीन बाजी मार लेगा।

मोटे—मैं तो जानता हूँ, रानी ने जान बूझ कर दुत्ते को बुला लिया।

सोना—मैं तो ओका मुँहे देखत ताड़ गई कि हमका पहचान गई।

इधर तो ये लोग पछताते चले जाते थे। उधर चिन्तामणि की पाँचों घी में थीं। आसन मारे भोजन कर रहे थे। रानी अपने हाथों से मिठाइयाँ परोस रही थीं। वार्तालाप भी होता जाता था।

रानी—बड़ा धूर्त है। मैं तो बालकों को देखते ही समझ गई। अपनी स्त्री को भेष बदल कर लाते उसे लज्जा भी न आई।

चिन्ता—मुझे कोस रहे होंगे।

रानी—मुझसे उड़ने चला था। मैंने भी कहा था, बचा तुमको ऐसी शिक्षा दूँगी कि उम्र भर याद करोगे। स्वामी को बुला लिया।

चिन्ता—सरकार की बुद्धि को धन्य है।

रामलीला

(१)



इधर एक मुद्दत से रामलीला देखने नहीं गया। बदरों के भद्दे चेहरे लगाए, आधी टाँगों का पाजामा और काला रंग का ऊँचा कुरता पहने आदमियों को दौड़ते, हू हू करते देखकर अब हँसी आती है, मजा नहीं आता। काशी की लीला जगद्विख्यात है। सुना है लोग दूर-दूर से देखने आते हैं। मैं भी बड़े शौक से गया। पर मुझे तो वहाँ की लीला और किसी वज्र देहात की लीला में कोई अंतर न दिखाई दिया। हाँ, रामनगर की लीला में कुछ साज सामान अच्छे हैं। राक्षसों और बदरों के चेहरे पीतल के हैं, गदाएँ भी पीतल की, कदाचित् वनवासी भ्राताओं के मुकुट सच्चे काम के हों। लेकिन साज-सामान के सिवा वहाँ भी वही हू हू के सिवा और कुछ नहीं। फिर भी लाखों आदमियों की भीड़ लगी रहती है।

लेकिन एक जमाना वह था, जब मुझे भी रामलीला में आनंद आता था। आनंद तो बहुत हलका-सा शब्द है। वह आनंद उन्माद से कम न था। संयोग-वश उन दिनों मेरे घर से बहुत थोड़ी दूर पर राम-लीला का मैदान था, और जिस घर में लीला-पात्रों का रूप रंग भरा जाता था, वह तो मेरे घर से बिलकुल मिला हुआ था। दो बजे दिन से पात्रों की सजावट होने लगती थी। मैं दोपहर ही से वहाँ जा बैठता, और जिस उत्साह से दौड़-दौड़कर छोटे-मोटे काम करता, उस उत्साह से तो आज अपनी पेंशन लेने भी नहीं जाता। एक कोठरी में राज

कुमारों का शृङ्गार होता था। उनकी देह में रामरज पीसकर पोती जाती, मुँह पर पाउडर लगाया जाता और पाउडर के ऊपर लाल हरे नीले रंग की बुंदकियाँ लगाई जाती थीं। सारा माथा, भौंहें, गाल, ठोढ़ी बुंदकियों से रच उठती थीं। एक ही आदमी इस काम में कुशल था। वही बारी बारी से तीनों पात्रों का शृंगार करता था। रंग की प्यालियों में पानी लाना, रामरज पीसना, पंखा झलना मेरा काम था। जब इन तैयारियों के बाद विमान निकलता, तो उस पर रामचन्द्रजी के पीछे बैठकर मुझे जो उल्लास, जो गर्व, जो रोमांच होता था, वह अब लाट साहब के दरबार में कुरसी पर बैठकर भी नहीं होता। एक बार जब होम मेंबर साहब ने व्यवस्थापक सभा में मेरे एक प्रस्ताव का अनुमोदन किया था, उस वक्त मुझे कुछ उसी तरह का उल्लास, गर्व और रोमांच हुआ था। हाँ, एक बार जब मेरा ज्येष्ठ पुत्र नायब तहसीलदारी में नामज़द हुआ, तब भी कुछ ऐसी ही तरंगें मन में उठी थीं। पर इनमें और उस बाल विह्वलता में बड़ा अन्तर है। तब तो ऐसा मालूम होता था कि मैं स्वर्ग में बैठा हूँ।

निषाद नौका-लीला का दिन था। मैं दो चार लड़कों के बहकाने में आकर गुल्ली डंडा खेलने लगा था। आज शृंगार देखने न गया। विमान भी निकला, पर मैंने खेलना न छोड़ा। मुझे अपना दाव लेना था। अपना दाव छोड़ने के लिए उससे कहीं बढ़कर आत्मत्याग की जरूरत थी, जितना मैं कर सकता था। अगर दाँव देना होता, तो मैं कब का भाग खड़ा होता। लेकिन पदाने में कुछ और ही बात होती है। खैर दाँव पूरा हुआ। अगर मैं चाहता तो धाँधली करके दस पाँच मिनट और पदा सकता था, इसकी काफी गुञ्जाइश थी, लेकिन अब इसका मौका न था। मैं सीधे नाले की तरफ दौड़ा। विमान जलतट पर पहुँच

चुका था। मैंने दूर से देखा, मल्लाह किश्ती लिए आ रहा है। दौड़ा, लेकिन आदमियों की भीड़ में दौड़ना कठिन था। आखिर जब मैं भीड़ हटाता, प्राण-पण से आगे बढ़ता घाट पर पहुँचा, तो निषाद अपनी नौका खोल चुका था। रामचन्द्र पर मेरी कितनी श्रद्धा थी। मैं अपने पाठ की चिंता न करके उन्हें पढ़ा दिया करता था, जिसमें वह फेल न हो जायँ। मुझसे उम्र ज्यादा होने पर भी वह नीची कक्षा में पढ़ते थे। लेकिन वही रामचन्द्र नौका पर बैठे इस तरह मुँह फेरे चले जाते थे, मानो मुझसे जान-पहचान ही नहीं। नकल में भी असल की कुछ न कुछ बू आ ही जाती है। भक्तों पर जिनकी निगाह सदा ही तीखी रही है, वह मुझे क्यों उबारते? मैं विकल होकर उस बछड़े की भाँति कूदने लगा, जिसकी गरदन पर पहली बार जुआ रक्खा गया हो। कभी लपककर नाले की ओर जाता, कभी किसी सहायक की खोज में पीछे की तरफ दौड़ता। पर सब-के-सब अपनी धुन में मस्त थे, मेरी चीख-पुकार किसी के कानों तक न पहुँची। तब से बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ झेलीं, पर उस समय जितना दुःख हुआ, उतना फिर कभी न हुआ।

मैंने निश्चय किया था कि अब रामचन्द्र से कभी न बोलूँगा, न कभी खाने की कोई चीज ही दूँगा लेकिन ज्यों ही नाले को पार करके वह पुल की ओर से लौटे मैं दौड़कर विमान पर चढ़ गया, और ऐसा खुश हुआ, मानो कोई बात ही न हुई थी।

(२)

रामलीला समाप्त हो गई थी। राजगद्दी होनेवाली थी। पर न-जाने क्यों देर हो रही थी। शायद चन्दा कम वसूल हुआ था। रामचन्द्र की इन दिनों कोई बात भी न पूछता था। न तो घर जाने की छुट्टी ही मिलती थी, न भोजन का प्रबन्ध ही होता था। चौधरी साहब के यहाँ

में एक सीधा कोई तीन बजे दिन को मिलता था। बाकी सारे दिन कोई पानी को भी न पूछता। लेकिन मेरी श्रद्धा अभी तक ज्यों-की-त्यों थी। मेरी दृष्टि में वह अब भी रामचन्द्र ही थे। घर पर मुझे खाने की जो चीज मिलती, वह लेकर रामचन्द्र को दे आता। उन्हें खिलाने में मुझे जितना आनन्द मिलता था, उतना आप खा जाने में कभी न मिलता। कोई मिठाई या फल पाते ही मैं बेतहाशा चौपाल की ओर दौड़ता। अगर रामचन्द्र वहाँ न मिलते, तो उन्हें चारों ओर तलाश करता, और जब तक वह चीज उन्हें न खिला लेता, मुझे चैन न आता था।

खैर राजगद्दी का दिन आया। रामलीला के मैदान में एक बड़ा-सा शामियाना ताना गया। उसकी खूब सजावट की गई। वेश्याओं के दल भी आ पहुँचे। शाम को रामचन्द्र की सवारी निकली और प्रत्येक द्वार पर उनकी आरती उतारी गई। श्रद्धानुसार किसी ने रुपए दिए, किसी ने पैसे। मेरे पिता पुलीस के आदमी थे, इसलिए उन्होंने बिना कुछ दिए ही आरती उतारी। उस वक्त मुझे जितनी लज्जा आई, उसे बयान नहीं कर सकता। मेरे पास उस वक्त संयोग से एक रुपया था। मेरे मामाजी दशहरे के पहले आए थे, और मुझे १) दे गए थे। उस रुपए को मैंने रख छोड़ा था। दशहरे के दिन भी उसे खर्च न कर सका। मैंने तुरन्त वह रुपया लाकर आरती की थाली में डाल दिया। पिताजी मेरी ओर कुपित नेत्रों से देखकर रह गए। उन्होंने कुछ कहा तो नहीं, लेकिन मुँह ऐसा बना लिया, जिससे प्रकट होता था कि मेरी इस धृष्टता से उनके रोब में बट्टा लग गया। रात के दस बजते-बजते यह परिक्रमा पूरी हुई। आरती की थाली रुपयों और पैसों से भरी हुई थी। ठीक तो नहीं कह सकता, मगर अब ऐसा अनुमान होता है कि ४-५ सौ रुपयों से कम न थे। चौधरी साहब इनसे कुछ ज्यादा ही खर्च कर चुके

थे। उन्हें इसकी बड़ी फ़िक्र हुई कि किसी तरह कम-से-कम २००) और वसूल हो जायँ। और, इसकी सबसे अच्छी तरकीब उन्हें यही मालूम हुई कि वेश्याओं द्वारा महफ़िल में वसूली हो। जब लोग आकर बैठ जायँ, और महफ़िल का रंग जम जाय, तो आबादीजान रसिकजनों की कलाइयाँ पकड़-पकड़कर ऐसे हाव-भाव दिखावें कि लोग शरमाते-शरमाते भी कुछ-न-कुछ दे ही मरें। आबादीजान और चौधरी साहब में सलाह होने लगी। मैं संयोग से उन दोनों प्राणियों की बातें सुन रहा था। चौधरी साहब ने समझा होगा यह लौंडा क्या मतलब समझेगा। पर यहाँ ईश्वर की दया से अक्ल के पुतले थे। सारी दास्तान समझ में आती जाती थी।

चौधरी—सुनो आबादीजान, यह तुम्हारी ज्यादती है। हमारा और तुम्हारा कोई पहला साबका तो है नहीं। ईश्वर ने चाहा, तो यहाँ हमेशा तुम्हारा आना-जाना लगा रहेगा। अबकी चंदा बहुत कम आया, नहीं तो मैं तुमसे इतना इसरार न करता।

आबादी०—आप मुझसे भी जमींदारी चालें चलते हैं, क्यों? मगर यहाँ हुजूर की दाल न गलेगी। वाह! रुपए तो मैं वसूल करूँ, और मूँछों पर ताव आप दें। कमाई का यह अच्छा ढंग निकाला है। इस कमाई से तो वाकई आप थोड़े दिनों में राजा हो जायँगे। उसके सामने जमींदारी झख मारेगी! बस, कल ही से एक चकला खोल दीजिए। खुदा की कसम, मालामाल हो जाइएगा।

चौधरी—तुम दिल्लगी करती हो, और यहाँ काफ़िया तंग हो रहा है।

चौधरी—आखिर तुम्हारी मंशा क्या है ?

आबादी०—जो कुछ वसूल करूँ, उसमें आधा मेरा और आधा आपका। लाइए हाथ मारिए।

चौधरी—यही सही।

आबादी०—अच्छा, तो पहले मेरे १००) गिन दीजिए। पीछे से आप अलसेठ करने लगेंगे।

चौधरी—वाह, वह भी लोगी और यह भी।

आबादी०—अच्छा! तो क्या आप समझते थे कि अपनी उजरत छोड़ देगी? वाह री आपकी समझ! खूब, क्यों न हो। दीवाना बकारे ख्वेश हुशियार।

चौधरी—तो क्या तुमने दोहरी फीस लेने की ठानी है?

आबादी०—अगर आपको सौ दफे गरज हो, तो! वरना मेरे १००) तो कहीं गए ही नहीं। मुझे क्या कुत्ते ने काटा है, जो लोगों की जेब में हाथ डालती फिरूँ।

चौधरी की एक न चली। आबादी के सामने दबना पड़ा। नाच शुरू हुआ। आबादीजान बला की शोख औरत थी। एक तो कमसिन, उस पर हसीन। और, उसकी अदाएँ तो इस गजब की थीं कि मेरी तबीयत भी मस्त हुई जाती थी। आदमियों को पहचानने का गुण भी उसमें कुछ कम न था। जिसके सामने बैठ गई, उससे कुछ न कुछ ले ही लिया। पाँच रुपए से कम तो शायद ही किसी ने दिए हों। पिताजी के सामने भी वह जा बैठी। मैं मारे शर्म के गड़ गया। जब उसने उनकी दाढ़ी पकड़ी, तब तो मैं सहम गया। मुझे यकीन था कि पिताजी उसका हाथ झटक देंगे। और शायद दुत्कार भी दें। किंतु यह क्या हो रहा है! ईश्वर! मेरी आँखें धोखा तो नहीं खा रही हैं! पिताजी मूँछों में हँस

रहे हैं। ऐसी मृदु हँसी उनके चेहरे पर मैंने कभी नहीं देखी थी। उनकी आँखों से अनुराग टपका पड़ता था। उनका एक-एक रोम पुलकित हो रहा था। मगर ईश्वर ने मेरी लाज रख ली। वह देखो, उन्होंने धीरे से आबादी के कोमल हाथों से अपनी कलाई छुड़ा ली। अरे! यह फिर क्या हुआ। आबादी तो उनके गले में बाँहें डाले देती है। अब की पिताजी जरूर उसे पीटेंगे। चुड़ैल को ज़रा भी शर्म नहीं!

एक महाशय ने मुसकिराकर कहा—यहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी आबादीजान! और दरवाजा देखो।

बात तो इन महाशय ने मेरे मन की कही, और बहुत ही उचित कही, लेकिन न-जाने क्यों पिताजी ने उनकी ओर कुपित नेत्रों से देखा, और मूँछों पर ताव दिया। मुँह से तो वह कुछ न बोले, पर उनके मुख की आकृति चिल्लाकर सरोष शब्दों में कह रही थी—तू बनिया मुझे समझता क्या है? यहाँ ऐसे अवसर पर जान तक निसार करने को तैयार हैं, रुपए की हकीकत ही क्या! तेरा जी चाहे आजमा ले। तुझसे दूनी रकम न दे डालूँ, तो मुँह न दिखाऊँ! महान् आश्चर्य! घोर अनर्थ! अरे जमीन, तू फट क्यों नहीं जाती? आकाश, तू फट क्यों नहीं पड़ता? अरे मुझे मौत क्यों नहीं आ जाती! पिताजी जेब में हाथ डाल रहे हैं। वह कोई चीज निकाली और सेठजी को दिखाकर आबादीजान को दे डाली। आह! यह तो अशर्फी है। चारों ओर तालियाँ बजने लगीं। सेठजी उल्लू बन गए। पिताजी ने मुँह की खाई, इसका निश्चय मैं नहीं कर सकता। मैंने केवल इतना देखा कि पिताजी ने एक अशर्फी निकालकर आबादीजान को दी। उनकी आँखों में इस समय इतना गर्व युक्त उल्लास था, मानो उन्होंने हातिम की कब्र पर लात मारी हो। यही पिताजी तो हैं, जिन्होंने मुझे आरती में १) डालते देखकर मेरी ओर

इस तरह से देखा था, मानो मुझे फाड़ ही खायँगे। मेरे इस परलोकि व्यवहार से उनके रोब में फर्क आता था, और हम लोग इस घृणित कुत्सित निन्दित व्यापार पर बड़े गर्व और आनन्द से फूले न समाते थे।

आबादीजान ने एक मनोहर मुसकान के साथ पिताजी को सलाम किया, और जाने लगी। मगर मुझसे वहाँ न बैठा गया। मारे शर्म के मेरा मस्तक झुका जाता था। अगर मेरी आँखों-देखी बात न होती, तो मुझे इस पर कभी एतबार न होता। मैं बाहर जो कुछ देखता-सुनता था, उसकी रिपोर्ट अम्मा से जरूर करता था। पर इस मामले को मैंने उनसे छिपा रक्खा। मैं जानता था, उन्हें यह बात सुनकर बड़ा दुःख होगा।

रात भर गाना होता रहा। तबले की धमक मेरे कानों में आ रही थी। जी चाहता था, चलकर देखूँ, पर साहस न होता था। मैं किसी को मुँह कैसे दिखाऊँगा? कहीं किसी ने पिताजी का जिक्र छेड़ दिया, तो मैं क्या करूँगा?

प्रातःकाल रामचन्द्र की विदाई होनेवाली थी। मैं चारपाई से उठते ही आँखें मलता हुआ चौपाल की ओर भागा। डर रहा था कि कहीं रामचन्द्र चले न गये हों। पहुँचा, तो देखा, तवायफों की सवारियाँ जाने को तैयार हैं। बीसों आदमी हसरत-नाक मुँह बनाये उन्हें घेरे खड़े हैं। मैंने उनकी ओर आँख तक न उठाई। सीधा रामचन्द्र के पास पहुँचा। लक्ष्मण और सीता बैठे रो रहे थे, और रामचन्द्र खड़े काँधे पर लुटिया-डोर डाले उन्हें समझा रहे थे। मेरे सिवा वहाँ और कोई न था। मैंने कुंठित स्वर में रामचन्द्र से पूछा—क्या तुम्हारी विदाई हो गई?

रामचन्द्र—हाँ, हो तो गई। हमारी विदाई ही क्या? चौधरी साहब ने कह दिया, जाओ, चले जाते हैं।

"क्या रुपए और कपड़े नहीं मिले ?"

"अभी नहीं मिले। चौधरी साहब कहते हैं, इस वक्त बचत में रुपए नहीं हैं। फिर आकर ले जाना।"

"कुछ नहीं मिला ?"

"एक पैसा भी नहीं। कहते हैं, कुछ बचत नहीं हुई। मैंने सोचा था, कुछ रुपए मिल जायँगे, तो पढ़ने की किताबें ले लूँगा। सो कुछ न मिला। राह खर्च भी नहीं दिया। कहते हैं, कौन दूर है, पैदल चले जाओ।"

मुझे ऐसा क्रोध आया कि चलकर चौधरी को खूब आड़े हाथों लूँ। वेश्याओं के लिए रुपए, सवारियाँ सब कुछ, पर बेचारे रामचन्द्र और उनके साथियों के लिए कुछ भी नहीं! जिन लोगों ने रात को आबादीजान पर दस-दस, बीस-बीस रुपए न्योछावर किए थे, उनके पास क्या इनके लिए दो-दो चार-चार आने पैसे भी नहीं हैं? पिताजी ने भी तो आबादीजान को एक अशर्फी दी थी। देखूँ, इनके नाम पर क्या देते हैं! मैं दौड़ा हुआ पिताजी के पास गया। वह कहीं तफतीश पर जाने को तैयार खड़े थे। मुझे देखकर बोले—"कहाँ घूम रहे हो? पढ़ने के वक्त तुम्हें घूमने की सूझती है?"

मैंने कहा—"गया था चौपाल। रामचंद्र विदा हो रहे थे। उन्हें चौधरी साहब ने कुछ नहीं दिया।"

"तो तुम्हें इसकी क्या फ़िक्र पड़ी है?

"वह जायँगे कैसे? पास राह-खर्च भी तो नहीं है।"

"क्या कुछ खर्च भी नहीं दिया? यह चौधरी साहब की बेइन्साफ़ी है।"

"आप अगर २) दे दें, तो मैं उन्हें दे आऊँ। इतने में शायद वह घर पहुँच जायँ।"

पिताजी ने तीव्र दृष्टि से देखकर कहा—"जाओ, अपनी किताब देखो। मेरे पास रुपए नहीं हैं।"

यह कहकर वह घोड़े पर सवार हो गए। उसी दिन से पिता से मेरी श्रद्धा उठ गई। मैंने फिर कभी उनकी डाँट डपट की परवा की। मेरा दिल कहता, आपको मुझे उपदेश देने का कोई अधिकार है। मुझे उनकी सूरत से चिढ़ हो गई। वह जो कहते, मैं ठीक उल्टा करता। यद्यपि इससे मेरी ही हानि हुई, लेकिन मेरा मन उस समय विप्लवकारी विचारों से भरा हुआ था।

मेरे पास दो आने पैसे पड़े हुए थे। मैंने पैसे उठा लिए, और शरमाते शरमाते रामचन्द्र को दे दिए। उन पैसों को देखकर रामचन्द्र जितना हर्ष हुआ, वह मेरे लिए आशातीत था। टूट पड़े, मानो का पानी मिल गया।

वही दो आने पैसे लेकर तीनों मूर्तियाँ विदा हुईं। केवल उन्हें पार करने के बाहर तक पहुँचाने आया।

उन्हें विदा करके लौटा, तो मेरी आँखें सजल थीं, पर हृदय से उमड़ा हुआ था।

मन्त्र

पंडित लीलाधर चौबे की जबान में जादू था। जिस वक्त वह मंच पर खड़े होकर अपनी वाणी की सुधावृष्टि करने लगते थे, श्रोताओं की आत्माएँ तृप्त हो जाती थीं, लोगों पर अनुराग का नशा छा जाता था। चौबेजी के व्याख्यानों में तत्व तो बहुत कम होता था, शब्द-योजना भी बहुत सुन्दर न होती थी, लेकिन उनकी शैली इतनी आकर्षक, रोचक और मर्मस्पर्शी थी कि एक ही व्याख्यान को बार-बार दुहराने पर भी उसका असर कम न होता, बल्कि घन की चोटों की भाँति और भी प्रभावोत्पादक हो जाता था। हमें तो विश्वास नहीं आता, किन्तु सुननेवाले कहते हैं, उन्होंने केवल एक व्याख्यान रट रखा है, और उसी को वह शब्दशः प्रत्येक सभा में एक नए अन्दाज से दुहराया करते हैं। जातीय गौरव-गान उनके व्याख्यानों का प्रधान गुण था, मंच पर आते ही भारत के प्राचीन गौरव और पूर्वजों की अमर-कीर्ति का राग छेड़कर सभा को मुग्ध कर देते थे। यथा—

सज्जनो! हमारी अधोगति की कथा सुनकर किसकी आँखों से अश्रु-धारा न निकल पड़ेगी? हमें अपने प्राचीन गौरव को याद करके संदेह होने लगता है कि हम वही हैं, या बदल गए। जिसने कल सिंह से पञ्जा लिया, वह आज चूहे को देखकर बिल खोज रहा है! इस पतन की भी कोई सीमा है! दूर क्यों जाइए, महाराज चन्द्रगुप्त के समय को ही ले लीजिए। यूनान का सुविज्ञ इतिहासकार लिखता है कि उस जमाने में यहाँ द्वार पर ताले न डाले जाते थे, चोरी कहीं सुनने में न आती थी,

व्यभिचार का नाम निशान न था, दस्तावेजों का आविष्कार ही न हुआ था, पुर्जों पर लाखों का लेन-देन हो जाता था, न्याय-पद पर बैठे हुए कर्मचारी मक्खियाँ मारा करते थे। सज्जनो, उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था (तालियाँ)। हाँ, उन दिनों कोई आदमी जवान न मरता था, बाप के सामने बेटे का अवसान हो जाना एक अश्रुत पूर्व—एक असम्भव घटना—थी। आज ऐसे कितने माता पिता हैं, जिनके कलेजे पर जवान बेटों का दाग न हो? वह भारत नहीं रहा, भारत गारत हो गया!

यही चौबेजी की शैली थी। वह वर्तमान की अधोगति और दुर्दशा तथा भूत की समृद्धि और सुदशा का राग अलाप कर लोगों में जातीय स्वाभिमान को जाग्रत् कर देते थे। इसी सिद्धि की बदौलत उनकी नेताओं में गणना होती थी। विशेषतः हिन्दू-सभा के तो वह कर्णधार ही समझे जाते थे। हिन्दू-सभा के उपासकों में कोई ऐसा उत्साही, ऐसा दक्ष, ऐसा नीति-चतुर दूसरा न था। यों कहिए कि सभा के लिए इन्होंने अपना जीवन ही उत्सर्ग कर दिया था। धन तो उनके पास न था, कम-से कम लोगों का विचार यही था, लेकिन साहस, धैर्य और बुद्धि जैसे अमूल्य रत्न उनके पास अवश्य थे, और ये सभी सभा को अर्पण थे। 'शुद्धि' के तो मानो वह प्राण ही थे। हिंदू जाति का उत्थान और पतन, जीवन और मरण उनके विचार में इसी प्रश्न पर अवलंबित था। शुद्धि के सिवा अब हिंदू जाति के पुनर्जीवन का और कोई उपाय न था। जाति की समस्त नैतिक, शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक बीमारियों की दवा इसी आंदोलन की सफलता में मर्यादित थी, और वह तन-मन से इसका उद्योग किया करते थे। चंदे वसूल करने में चौबेजी सिद्धहस्त थे। ईश्वर ने उन्हें वह 'गुर' बता दिया

था कि पत्थर से भी तेल निकाल सकते थे। कंजूसों को तो वह ऐसा उलटे छुरे से मूड़ते थे कि उन महाशयों को सदा के लिए शिक्षा मिल जाती थी। इस विषय में पंडितजी साम, दाम, दंड और भेद, चारों नीतियों से काम लेते थे, यहाँ तक कि राष्ट्र हित के लिए डाका और चोरी को भी क्षम्य समझते थे।

(२)

गरमी के दिन थे। लीलाधरजी किसी शीतल पार्वत्यप्रदेश को जाने की तैयारियाँ कर रहे थे कि सैर-की सैर हो जायगी, और बन पड़ा, तो कुछ चंदा भी वसूल कर लावेंगे। उनको जब भ्रमण की इच्छा होती, तो मित्रों के साथ एक डेपुटेशन के रूप में निकल खड़े होते। अगर एक हजार रुपए वसूल करके वह उसका आधा सैर-सपाटे में खर्च भी कर दें, तो किसी की क्या हानि? हिंदू-सभा को तो कुछ-न-कुछ मिल ही जाता था। वह न उद्योग करते, तो इतना भी तो न मिलता! पंडितजी ने अब की सपरिवार जाने का निश्चय किया था। जब से 'शुद्धि' का आविर्भाव हुआ था, उनकी आर्थिक दशा, जो पहले बहुत शोचनीय रहती थी, बहुत कुछ सँभल गई थी।

लेकिन जाति के उपासकों का ऐसा सौभाग्य कहाँ कि शांति निवास का आनंद उठा सकें! उनका तो जन्म ही मारे-मारे फिरने के लिए होता है। खबर आई कि मदरास प्रांत में तबलीगवालों ने तूफ़ान मचा रक्खा है। हिंदुओं के गाँव-के-गाँव मुसलमान होते जाते हैं। मुल्लाओं ने बड़े जोश से तबलीग का काम शुरू किया है। अगर हिंदू सभा ने इस प्रवाह को रोकने की आयोजना न की, तो सारा प्रांत हिन्दुओं से शून्य हो जायगा—किसी शिखाधारी की सूरत न नजर आवेगी।

हिंदू सभा में खलबली मच गई। तुरंत एक विशेष अधिवेशन हुआ

और नेताओं के सामने यह समस्या उपस्थित की गई। बहुत सोच विचार के बाद निश्चय हुआ कि चौबेजी पर इस कार्य का भार रखा जाय। उनसे प्रार्थना की जाय कि वह तुरंत मदरास चले जायँ, और धर्म-विमुख बन्धुओं का उद्धार करें। कहने ही की देर थी। चौबेजी तो हिंदू जाति की सेवा के लिए अपने को अर्पण ही कर चुके थे, पर्वत यात्रा का विचार रोक दिया, और मदरास जाने को तैयार हो गए। हिंदू-सभा के मंत्री ने आँखों में आँसू भरकर उनसे विनय की कि महाराज, यह बीड़ा आप ही उठा सकते हैं। आप ही को परमात्मा ने इतनी सामर्थ्य दी है। आपके सिवा ऐसा कोई दूसरा मनुष्य भारतवर्ष में नहीं है, जो इस घोर विपत्ति में काम आवे। जाति की दीन हीन दशा पर दया कीजिए। चौबेजी इस प्रार्थना को अस्वीकार न कर सके। फौरन् सेवकों की एक मंडली बनी, और पंडितजी के नेतृत्व में रवाना हुई। हिन्दू-सभा ने उसे बड़ी धूम से विदाई का भोज दिया। एक उदार रईस ने चौबेजी को एक थैली भेंट की, और रेल्वे-स्टेशन पर हजारों आदमी उन्हें विदा करने आए।

यात्रा का वृत्तांत लिखने की जरूरत नहीं। हरएक बड़े स्टेशन पर सेवकों का सम्मानपूर्ण स्वागत हुआ। कई जगह थैलियाँ मिलीं। रतलाम की रियासत ने एक शामियाना भेंट किया। बड़ौदा ने एक मोटर दी कि सेवकों को पैदल चलने का कष्ट न उठाना पड़े, यहाँ तक कि मदरास पहुँचते-पहुँचते सेवा दल के पास एक माकूल रकम के अतिरिक्त जरूरत की कितनी ही चीजें जमा हो गईं। वहाँ आबादी से दूर, एक खुले हुए मैदान में हिन्दू सभा का पड़ाव पड़ा। शामियाने पर राष्ट्रीय झंडा लहराने लगा। सेवकों ने अपनी अपनी वर्दियाँ निकालीं, स्थानीय धनकुबेरों ने दावत के सामान भेजे, रावटियाँ पड़ गईं। चारों ओर ऐसी चहल पहल हो गई, मानो किसी राजा का कैंप है।

(२)

रात के आठ बजे थे। अछूतों की एक बस्ती के समीप, सेवक-दल का कैंप गैस के प्रकाश से जगमगा रहा था। कई हजार आदमियों का जमाव था, जिनमें अधिकांश अछूत ही थे। उनके लिए अलग टाट बिछा दिए गए थे। ऊँचे वर्ण के हिन्दू क़ालीनों पर बैठे हुए थे। पंडित लीलाधर का धुआँधार व्याख्यान हो रहा था—'तुम उन्हीं ऋषियों की संतान हो, जो आकाश के नीचे एक नई सृष्टि की रचना कर सकते थे, जिनके न्याय, बुद्धि और विचार शक्ति के सामने आज सारा संसार सिर झुका रहा है—"

सहसा एक बूढ़े अछूत ने उठकर पूछा—हम लोग भी उन्हीं ऋषियों की संतान हैं?

लीलाधर—निस्सदेह। तुम्हारी धमनियों में भी उन्हीं ऋषियों का रक्त दौड़ रहा है और, यद्यपि आज का निर्दयी, कठोर, विचार हीन, संकुचित हिन्दू-समाज तुम्हें अवहेला की दृष्टि से देख रहा है, तथापि तुम किसी हिन्दू से नीच नहीं हो, चाहे वह अपने को कितना ही ऊँचा समझता हो।

बूढ़ा—तुम्हारी सभा हम लोगों की सुध क्यों नहीं लेती?

लीलाधर—हिन्दू-सभा का जन्म अभी थोड़े ही दिन हुए, हुआ है, और इस अल्पकाल में उसने जितने काम किए हैं, उन पर उसे अभिमान हो सकता है। हिन्दू जाति शताब्दियों के बाद गहरी नींद से चौंकी है, और अब वह समय निकट है, जब भारतवर्ष में कोई हिन्दू किसी हिन्दू को नीच न समझेगा, जब सब एक दूसरे को भाई समझेंगे। श्रीरामचन्द्र ने निषाद को छाती से लगाया था, शबरी के जूठे बेर खाए थे

बूढ़ा—आप जब इन्हीं महात्माओं की संतान हैं, तो फिर ऊँच नीच में क्यों इतना भेद मानते हैं?

लीलाधर—इसलिए कि हम पतित हो गए हैं—अज्ञान में पड़कर उन महात्माओं को भूल गए हैं।

बूढ़ा—अब तो आपकी निद्रा टूटी है, हमारे साथ भोजन करोगे?

लीलाधर—मुझे कोई आपत्ति नहीं है।

बूढ़ा—मेरे लड़के से अपनी कन्या का विवाह कीजिएगा?

लीलाधर—जब तक तुम्हारे जन्म-संस्कार न बदल जायँ, जब तक तुम्हारे आहार-व्यवहार में परिवर्तन न हो जाय, हम तुमसे विवाह का संबंध नहीं कर सकते। मांस खाना छोड़ो, मदिरा पीना छोड़ो, शिक्षा ग्रहण करो, तभी तुम उच्च वर्ण के हिन्दुओं में मिल सकते हो।

बूढ़ा—हम कितने ही ऐसे कुलीन ब्राह्मणों को जानते हैं, जो रात दिन नशे में डूबे रहते हैं, मांस के बिना कौर नहीं उठाते, और कितने ही ऐसे हैं, जो एक अक्षर भी नहीं पढ़े हैं, पर आपको उनके साथ भोजन करते देखता हूँ। उनसे विवाह संबंध करने में आपको कदाचित् इन्कार न होगा। जब आप खुद अज्ञान में पड़े हुए हैं, तो हमारा उद्धार कैसे कर सकते हैं? आपका हृदय अभी तक अभिमान से भरा हुआ है। जाइए, अभी कुछ दिन और अपनी आत्मा का सुधार कीजिए। हमारा उद्धार आपके किए न होगा। हिन्दू-समाज में रहकर हमारे माथे से नीचता का कलंक न मिटेगा। हम कितने ही विद्वान्, कितने ही आचारवान् हो जायँ, आप हमें यों ही नीच समझते रहेंगे। हिन्दुओं की आत्मा मर गई है, और उसका स्थान अहंकार ने ले लिया है। हम अब उस देवता की शरण जा रहे हैं, जिसके माननेवाले हमसे गले मिलने को आज ही तैयार हैं। वे यह नहीं कहते कि तुम अपने संस्कार बदलकर आओ। हम अच्छे हैं या बुरे, वे इसी दशा में हमें अपने पास बुला रहे

है। आप अगर ऊँचे हैं, तो ऊँचे बने रहिए। हमें उड़ना नहीं आता। हम उन लोगों के साथ रहेंगे, जिनके साथ हमें उड़ना न पड़ेगा।

लीलाधर—एक ऋषि-संतान के मुँह से ऐसी बात सुनकर मुझे आश्चर्य हो रहा है। वर्ण-भेद तो ऋषियों ही का किया हुआ है। उसे तुम कैसे मिटा सकते हो?

बूढ़ा—ऋषियों को मत बदनाम कीजिए। यह सब पाखण्ड आप लोगों का रचा हुआ है। आप कहते हैं, तुम मदिरा पीते हो, लेकिन आप मदिरा पीनेवालों की जूतियाँ चाटते हैं। आप हमसे मांस खाने के कारण घिनाते हैं, लेकिन आप गो-मांस खानेवालों के सामने नाक रगड़ते हैं। इसीलिए न कि वे आपसे बलवान् हैं! हम भी आज राजा हो जायँ, तो आप हमारे सामने हाथ बाँधे खड़े होंगे। आपके धर्म में वही ऊँचा है, जो बलवान् है, वही नीच है, जो निर्बल है। यही आपका धर्म है?

यह कहकर बूढ़ा वहाँ से चला गया, और उसके साथ ही और लोग भी उठ खड़े हुए। केवल चौबेजी और उनके दलवाले मंच पर रह गए, मानो गान समाप्त हो जाने के बाद उसकी प्रतिध्वनि वायु में गूँज रही हो।

(४)

तबलीगवालों ने जब से चौबेजी के आने की खबर सुनी थी, इस फिक्र में थे कि किसी उपाय से इन सबको यहाँ से दूर करना चाहिए। चौबेजी का नाम दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। जानते थे, यह यहाँ जम गया, तो हमारी सारी की-कराई मिहनत व्यर्थ हो जायगी। इसके कदम यहाँ जमने न पाएँ। मुल्लाओं ने उपाय सोचना शुरू किया। बहुत वाद-विवाद, हुज्जत और दलील के बाद निश्चय हुआ कि इस काफिर को कत्ल कर दिया जाय। ऐसा सवाब लूटने के लिए आदमियों की क्या

कमी? उसके लिए तो जन्नत का दरवाजा खुल जायगा, हूरें उसकी बलाएँ लेंगी, फरिश्ते उसके कदमों की खाक का सुरमा बनाएँगे, रसूल उसके सर पर बरकत का हाथ रक्खेंगे, खुदावंद करीम उसे सीने से लगा लेंगे और कहेंगे—तू मेरा प्यारा दोस्त है। दो हट्टे-कट्टे जवानों ने तुरंत बीड़ा उठा लिया।

रात के दस बज गए थे। हिन्दू सभा के कैंप में सन्नाटा था। केवल चौबेजी अपनी रावटी में बैठे हिन्दू-सभा के मंत्री को पत्र लिख रहे थे—यहाँ सबसे बड़ी आवश्यकता धन की है। रुपया, रुपया, रुपया! जितना भेज सकें, भेजिए। डेपुटेशन भेजकर वसूल कीजिए, मोटे महाजनों की जेब टटोलिए, भिक्षा माँगिए। बिना धन के इन अभागों का उद्धार न होगा। जब तक कोई पाठशाला न खुले, कोई चिकित्सालय न स्थापित हो, कोई वाचनालय न हो, इन्हें कैसे विश्वास आवेगा कि हिन्दू सभा इनकी हितचिंतक है। तबलीगवाले जितना खर्च कर रहे हैं, उसका आधा भी मुझे मिल जाय, तो हिन्दू-धर्म की पताका फहराने लगे। केवल व्याख्यानों से काम न चलेगा। असीसों से कोई जिन्दा नहीं रहता।

सहसा किसी की आहट पाकर वह चौंक पड़े। आँखें ऊपर उठाईं, तो देखा, दो आदमी सामने खड़े हैं। पंडितजी ने शंकित होकर पूछा—तुम कौन हो, क्या काम है?

उत्तर मिला—हम इजराईल के फरिश्ते हैं। तुम्हारी रूह कब्ज करने आए हैं। हजरत इजराईल ने तुम्हें याद किया है।

पंडितजी यों बहुत ही बलिष्ठ पुरुष थे, इन दोनों को एक धक्के में गिरा सकते थे। प्रातःकाल तीन पाव मोहनभोग और दो सेर दूध का नाश्ता करते थे। दोपहर के समय पाव-भर घी दाल में खाते, तीसरे पहर दूधिया भंग छानते, जिसमें सेर-भर मलाई और आधसेर बादाम मिली

रहती। रात को डटकर ब्यालू करते, क्योंकि प्रातःकाल तक फिर कुछ न खाते थे। इस पर तुर्रा यह कि पैदल पग-भर भी न चलते थे। पालकी मिले, तो पूछना ही क्या, जैसे घर का पलँग उड़ा जा रहा हो। कुछ न हो, तो इक्का तो था ही, यद्यपि काशी में दो ही चार इक्केवाले ऐसे थे, जो उन्हें देखकर कह न दें कि "इक्का खाली नहीं है।" ऐसा मनुष्य नर्म अखाड़े में पट पड़कर ऊपरवाले पहलवान को थका सकता था, चुस्ती और फुर्ती के अवसर पर तो वह रेत पर निकला हुआ कछुआ था।

पंडितजी ने एक बार कनखियों से दरवाजे की तरफ़ देखा। भागने का कोई मौका न था। तब उनमें साहस का संचार हुआ। भय की पराकाष्ठा ही साहस है। अपने सोटे की तरफ हाथ बढ़ाया, और गरज-कर बोले—निकल जाओ यहाँ से ।

बात मुँह से पूरी न निकली थी कि लाठियों का वार पड़ा। पंडितजी मूर्च्छित होकर गिर पड़े। शत्रुओं ने समीप आकर देखा, जीवन का कोई लक्षण न था। समझ गए, काम तमाम हो गया। लूटने का तो विचार न था, पर जब कोई पूछनेवाला न हो, तो हाथ बढ़ाने में क्या हर्ज? जो कुछ हाथ लगा, ले-देकर चलते हुए।

(५)

प्रातःकाल बूढ़ा भी इधर से निकला, तो सन्नाटा छाया हुआ था—न आदमी न आदमजाद, छोलदारियाँ भी गायब! चकराया, यह माजरा क्या है! रात-ही-रात में अलादीन के महल की तरह सब कुछ गायब हो गया। इन महात्माओं में से एक भी नजर नहीं आता, जो प्रातःकाल मोहनभोग उड़ाते और संध्या समय भंग घोटते दिखाई देते थे। जरा और समीप जाकर पंडित लीलाधर की रावटी में झाँका, तो कलेजा सन्न से हो गया। पंडितजी जमीन पर मुर्दे की तरह पड़े हुए थे। मुँह पर

मक्खियाँ भिनक रही थीं। सिर के बालों में रक्त ऐसा जम गया था जैसे किसी चित्रकार के ब्रश में रंग। सारे कपड़े लहूलुहान हो रहे थे। समझ गया, पंडितजी के साथियों ने उन्हें मारकर अपनी राह ली। सहसा पंडितजी के मुँह से कराहने की आवाज निकली। अभी जान बाकी थी। बूढ़ा तुरन्त दौड़ा हुआ गाँव में गया, और कई आदमियों को लाकर पंडितजी को अपने घर उठवा ले गया।

मरहम-पट्टी होने लगी। बूढ़ा दिन-के-दिन और रात-की रात पंडितजी के पास बैठा रहता। उसके घरवाले उनकी सुश्रूषा में लगे रहते। गाँववाले भी यथाशक्ति सहायता करते। इस बेचारे का यहाँ कौन अपना बैठा हुआ है? अपने हैं तो हम, बेगाने हैं तो हम। हमारे ही उद्धार के लिए तो बेचारा यहाँ आया था, नहीं तो यहाँ उसे क्या लेना था? कई बार पंडितजी अपने घर पर बीमार पड़ चुके थे। पर उनके घरवालों ने इतनी तन्मयता से कभी उनकी तीमारदारी न की थी। सारा घर, और घर ही नहीं, सारा गाँव उनका गुलाम बना हुआ था। अतिथि-सेवा उनके धर्म का एक अंग थी। सभ्य स्वार्थ ने अभी उस भाव का गला नहीं घोंटा था। साँप का मंत्र जाननेवाला देहाती अब भी माघ-पूस की अँधेरी मेघाच्छन्न रात्रि में मंत्र झाड़ने के लिए दस-पाँच कोस पैदल दौड़ता हुआ चला जाता है। उसे डबल फीस और सवारी की जरूरत नहीं होती। बूढ़ा मल-मूत्र तक अपने हाथों उठाकर फेंकता, पंडितजी की घुड़कियाँ सुनता, सारे गाँव से दूध माँगकर उन्हें पिलाता, पर उसकी त्योरियाँ कभी मैली न होतीं। अगर उसके कहीं चले जाने पर घरवाले लापरवाही करते, तो आकर सबको डाँटता।

महीने भर के बाद पंडितजी चलने-फिरने लगे, और अब उन्हें ज्ञात हुआ कि इन लोगों ने मेरे साथ कितना उपकार किया है। इन्हीं लोगों

का काम था कि मुझे मौत के मुँह से निकाला, नहीं तो मरने में क्या कसर रह गई थी ? उन्हें अनुभव हुआ कि मैं जिन लोगों को नीच समझता था, और जिनके उद्धार का बीड़ा उठाकर आया था, वे मुझसे कहीं ऊँचे हैं। इस परिस्थिति में मैं कदाचित् रोगी को किसी अस्पताल भेजकर ही अपनी कर्तव्यनिष्ठा पर गर्व करता, समझता, मैंने दधीचि और हरिश्चंद्र का मुख उज्ज्वल कर दिया। उनके रोएँ-रोएँ से इन देव-तुल्य प्राणियों के प्रति आशीर्वाद निकलने लगा।

(६)

तीन महीने गुजर गए। न तो हिन्दू-सभा ने पडितजी की खबर ली, और न घरवालों ने। सभा के मुख पत्र में उनकी मृत्यु पर आँसू बहाए गए, उनके कामों की प्रशंसा की गई, और उनका स्मारक बनाने के लिए चंदा खोल दिया गया। घरवाले भी रो-पीटकर बैठ रहे।

इधर पडितजी दूध और घी खाकर चोक-चौबंद हो गए। चेहरे पर खून की सुर्खी दौड़ गई, देह भर आई। देहात के जल-वायु ने वह काम कर दिखाया, जो कभी मलाई और मक्खन से न हुआ था। पहले की तरह तैयार तो वह न हुए, पर फुर्ती और चुस्ती दुगनी हो गई। मोटाई का आलस्य अब नाम को भी न था। उनमें एक नए जीवन का संचार हो गया।

जाड़ा शुरू हो गया था। पडितजी घर लौटने की तैयारियाँ कर रहे थे। इतने में प्लेग का आक्रमण हुआ, और गाँव के तीन आदमी बीमार हो गए। बूढ़ा चौधरी भी इन्हीं में था। घरवाले इन रोगियों को छोड़कर भाग खड़े हुए। वहाँ का दस्तूर था कि जिन बीमारियों को वे लोग दैवी कोप समझते थे उनके रोगियों को छोड़कर चले जाते थे। उन्हें बचाना देवताओं से बैर लेना था, और देवताओं से बैर

करके कहाँ जाते ? जिस प्राणी को देवताओं ने चुन लिया, उसे भला वे उसके हाथों से छीनने का साहस कैसे करते ! पंडितजी को भी लोगों ने साथ ले जाना चाहा, किन्तु पंडितजी न गए। उन्होंने गाँव में रहकर रोगियों की रक्षा करने का निश्चय किया। जिस प्राणी ने उन्हें मौत के पंजे से छुड़ाया था, उसे इस दशा में छोड़कर वह कैसे जाते ? उपकार ने उनकी आत्मा को जगा दिया था। बूढ़े चौधरी ने तीसरे दिन होश आने पर जब उन्हें अपने पास खड़े देखा, तो बोला—महाराज, तुम यहाँ क्यों आ गए ? मेरे लिए देवताओं का हुक्म आ गया है। अब मैं किसी तरह नहीं रुक सकता। तुम क्यों अपनी जान जोखिम में डालते हो ? मुझ पर दया करो, चले जाओ।

लेकिन पंडितजी पर कोई असर न हुआ। वह बारी-बारी से तीनों रोगियों के पास जाते, और कभी उनकी गिल्टियाँ सेंकते, कभी उन्हें पुराणों की कथाएँ सुनाते। घरों में नाज, बरतन आदि सब ज्यों-के-त्यों रक्खे हुए थे। पंडितजी पथ्य बना-बनाकर रोगियों को खिलाते। रात को जब रोगी भी सो जाते, और सारा गाँव भाँय-भाँय करने लगता, तो पंडितजी को भाँति-भाँति के भयंकर जन्तु दिखाई देते। उनके कलेजे में धड़कन होने लगती। लेकिन वहाँ से टलने का नाम न लेते। उन्होंने निश्चय कर लिया था कि या तो इन लोगों को बचा ही लूँगा, या इन पर अपने को बलिदान ही कर दूँगा।

जब तीन दिन सेंक-बाँध करने पर भी रोगियों की हालत न सँभली, तो पंडितजी को बड़ी चिन्ता हुई। शहर वहाँ से बीस मील पर था। रेल का कहीं पता नहीं, रास्ता बीहड़ और सवारी कोई नहीं। इधर यह भय कि अकेले रोगियों को न जाने क्या दशा हो। बेचारे बड़े संकट में पड़े। अन्त को चौथे दिन, पहर रात रहे, वह अकेले ही शहर को चल

दिए, और दस बजते-बजते वहाँ जा पहुँचे। अस्पताल से दवा लेने में बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ा। गँवारों से अस्पतालवाले दवाओं का मनमाना दाम वसूल किया करते थे। पण्डितजी को मुफ्त क्यों देने लगे? डाक्टर के मुंशी ने कहा—दवा तैयार नहीं है।

पण्डितजी ने गिड़गिड़ाकर कहा—सरकार, बड़ी दूर से आया हूँ। कई आदमी बीमार पड़े हैं। दवा न मिलेगी, तो सब मर जायँगे।

मुंशी ने बिगड़कर कहा—क्यों सिर खाए जाते हो? कह तो दिया, दवा तैयार नहीं है, और न इतनी जल्द तैयार हो सकती है।

पण्डितजी अत्यंत दीन भाव से बोले—सरकार, ब्राह्मण हूँ, आपके बाल-बच्चों को भगवान् चिरजीवी करें, दया कीजिए। आपका अकबाल चमकता रहे।

रिश्वती कर्मचारियों में दया कहाँ? वे तो रुपए के गुलाम हैं। ज्यों ज्यों पण्डितजी उसकी खुशामद करते थे, वह और भी झल्लाता था अपने जीवन में पण्डितजी ने कभी इतनी दीनता न प्रकट की थी। उनके पास इस वक्त एक धेला भी न था। अगर वह जानते कि दवा मिलने में इतनी दिक्कत होगी, तो गाँववालों से ही कुछ माँग-जाँचकर लाए होते। बेचारे हतबुद्धि-से खड़े सोच रहे थे कि अब क्या करना चाहिए? सहसा डाक्टर साहब स्वयं बंगले से निकल आए। पण्डितजी लपककर उनके पैरों पर गिर पड़े, और करुण स्वर में बोले—दीन-बंधु, मेरे घर के तीन आदमी ताऊन में पड़े हुए हैं। बड़ा गरीब हूँ सरकार, कोई दवा मिले।

डाक्टर साहब के पास ऐसे गरीब लोग नित्य आया करते थे। उनके चरणों पर किसी का सिर पटकना, उनके सामने पड़े हुए आर्त-नाद करना, उनके लिए कुछ नई बातें न थीं। अगर इस तरह वह दया करने लगते, तो दया ही-भर को होते यह ठाट बाट कहाँ से निभता? मगर दिल के

चाहे कितने ही बुरे हों, बातें मीठी मीठी करते थे। पैर हटाकर बोले—रोगी कहाँ है?

पण्डित—सरकार, वे तो घर पर हैं। इतनी दूर कैसे लाता?

डाक्टर—रोगी घर है और तुम दवा लेने आया है। कितना मजे का बात है। रोगी को देखे बिना कैसे दवा दे सकता है?

पण्डितजी को अपनी भूल मालूम हुई। वास्तव में बिना रोगी को देखे रोग की पहचान कैसे हो सकती है। लेकिन तीन-तीन रोगियों को इतनी दूर लाना आसान न था। अगर गाँववाले उनकी सहायता करते, तो डोलियों का प्रबंध हो सकता था। पर यहाँ तो सब कुछ अपने ही बूते पर करना था, गाँववालों से इसमें सहायता मिलने की कोई आशा न थी। सहायता की कौन कहे, वे तो उनके शत्रु हो रहे थे। उन्हें भय होता था कि यह दुष्ट देवताओं से बैर बढ़ाकर हम लोगों पर न जाने क्या विपत्ति लावेगा। अगर कोई दूसरा आदमी होता तो वह उसे कब का मार चुके होते। पण्डितजी से उन्हें प्रेम हो गया था, इसीलिए छोड़ दिया था।

यह जवाब सुनकर पंडितजी को कुछ बोलने का साहस तो न होता था, पर कलेजा मजबूत करके बोले—सरकार, अब कुछ नहीं हो सकता?

डाक्टर—अस्पताल से दवा नहीं मिल सकता। हम अपने पास से दाम लेकर दवा दे सकता है।

पण्डित—यह दवा कितने की होगी सरकार?

डाक्टर साहब ने दवा का दाम 10) बतलाया, और यह भी कहा कि इस दवा से जितना लाभ होगा, उतना अस्पताल की दवा से नहीं हो सकता। बोले—वहाँ पुराना दवाई रक्खा रहता है। गरीब लोग आता है, दवाई ले जाता है जिसको जीना होता है, जीता है, जिसे मरना

होता है, मरता है, हमसे कुछ मतलब नहीं। हम तुमको जो दवा देगा, वह सच्चा दवा होगा।

दस रुपए! इस समय पण्डितजी को दस रुपए दस लाख जान पड़े। इतने रुपए वह एक दिन में भंग-बूटी में उड़ा दिया करते थे। पर इस समय तो धेले-धेले को मुहताज थे। किसी से उधार मिलने की आशा कहाँ। हाँ, सम्भव है, भिक्षा माँगने से कुछ मिल जाय। लेकिन इतनी जल्द दस रुपए किसी उपाय से भी न मिल सकते थे। आधघंटे तक वह इसी उधेड़-बुन में खड़े रहे। भिक्षा के सिवा दूसरा कोई उपाय न सूझता था, और भिक्षा इन्होंने कभी माँगी न थी। वह चन्दे जमा कर चुके थे, एक-एक बार में हजारों वसूल कर लेते थे, पर वह दूसरी बात थी। धर्म के रक्षक, जाति के सेवक, और दलितों के उद्धारक बनकर चन्दा लेने में एक गौरव था, चन्दा लेकर वह देनेवालों पर एहसान करते थे। पर यहाँ तो भिखारियों की भाँति हाथ फैलाना, गिड़गिड़ाना और फटकारें सहनी पड़ेंगी। कोई कहेगा, इतने मोटे-ताजे तो हो, मिहनत क्यों नहीं करते, तुम्हें भीख माँगते शर्म भी नहीं आती? कोई कहेगा, घास खोद लाओ, मैं तुम्हें अच्छी मजदूरी दूँगा। किसी को उनके ब्राह्मण होने का विश्वास न आवेगा। अगर यहाँ उनकी रेशमी अचकन और रेशमी साफ़ा होता, केसरिया रंगवाला दुपट्टा ही मिल जाता, तो वह कोई स्वांग भर लेते। ज्योतिषी बनकर वह किसी धनी सेठ को फाँस सकते थे, और इस फन में वह उस्ताद भी थे। पर यहाँ वह सामान कहाँ—कपड़े-लत्ते तो सब लुट चुके थे। विपत्ति में कदाचित् बुद्धि भी भ्रष्ट हो जाती है। अगर वह मैदान में खड़े होकर कोई मनोहर व्याख्यान दे देते, तो शायद उनके दस-पाँच भक्त पैदा हो जाते। लेकिन इस तरफ उनका ध्यान ही न गया। वह सजे हुए पंडाल में, फूलों से सुसज्जित मेज

के सामने, मञ्च पर खड़े होकर अपनी वाणी का चमत्कार दिखला चुके थे। इस दुरवस्था में कौन उनका व्याख्यान सुनेगा? लोग समझेंगे कोई पागल बक रहा है।

मगर दोपहर ढली जा रही थी, अधिक सोच विचार का अवकाश न था। कहीं सन्ध्या हो गई, तो रात को लौटना असम्भव हो जायगा। फिर रोगियों की न-जाने क्या दशा हो। वह अब इस अनिश्चित दशा में खड़े न रह सके। चाहे जितना तिरस्कार हो, कितना ही अपमान सहना पड़े, भिक्षा के सिवा और कोई उपाय न था।

वह बाज़ार में जाकर एक दुकान के सामने खड़े हो गए। पर कुछ माँगने की हिम्मत न पड़ी।

दुकानदार ने पूछा—क्या लोगे?

पण्डितजी बोले—चावल का क्या भाव है?

मगर दूसरी दुकान पर पहुँचकर वह ज्यादा सावधान हो गए। सेठजी गद्दी पर बैठे हुए थे। पण्डितजी आकर उनके सामने खड़े हो गए, और गीता का एक श्लोक पढ़ सुनाया। उनका शुद्ध उच्चारण और मधुर वाणी सुनकर सेठजी चकित हो गए, पूछा—कहाँ स्थान है?

पण्डित—काशी से आ रहा हूँ।

यह कहकर पण्डितजी ने सेठजी से धर्म के दस लक्षण बतलाए, और श्लोक की ऐसी अच्छी व्याख्या की कि वह मुग्ध हो गया। बोला—महाराज, आज चलकर मेरे स्थान को पवित्र कीजिए।

कोई स्वार्थी आदमी होता, तो इस प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेता, लेकिन पण्डितजी को तो लौटने की पड़ी थी। बोले—नहीं सेठजी, मुझे अवकाश नहीं है।

सेठ—महाराज, आपको हमारी इतनी खातिर करनी होगी।

पंडितजी जब किसी तरह ठहरने पर राजी न हुए, तो सेठजी ने उदास होकर कहा—फिर हम आपकी क्या सेवा करें? कुछ आज्ञा दीजिए। आपकी वाणी से तो तृप्ति नहीं हुई। फिर कभी इधर आना हो, तो अवश्य दर्शन दीजिएगा।

पंडित—आपकी इतनी श्रद्धा है, तो अवश्य आऊँगा।

यह कहकर पंडितजी फिर उठ खड़े हुए। संकोच ने फिर उनकी ज़बान बंद कर दी। यह आदर-सत्कार इसीलिए तो है कि मैं अपना स्वार्थ-भाव छिपाए हुए हूँ। कोई इच्छा प्रकट की और इनकी आँखें बदलीं। सूखा जवाब चाहे न मिले, पर यह श्रद्धा न रहेगी। वह नीचे उतर गए, और सड़क पर एक क्षण के लिए खड़े होकर सोचने लगे—अब कहाँ जाऊँ? इधर जाड़े का दिन किसी विलासी के धन की भाँति भागा चला जाता था। वह अपने ही ऊपर झुँझला रहे थे—जब किसी से माँगूँगा ही नहीं, तो कोई क्यों देने लगा? कोई क्या मेरे मन का हाल जानता है? वे दिन गए, जब धनी लोग ब्राह्मणों की पूजा किया करते थे। यह आशा छोड़ दो कि कोई महाशय आकर तुम्हारे हाथ में रुपए रख देंगे। वह धीरे धीरे आगे बढ़े।

सहसा सेठजी ने पीछे से पुकारा—पंडितजी, ज़रा ठहरिए।

पंडितजी ठहर गए। फिर घर चलने के लिए आग्रह करने आता होगा। यह तो न हुआ कि एक दस रुपए का नोट लाकर दे देता, मुझे घर ले जाकर न जाने क्या करेगा।

मगर जब सेठजी ने सचमुच एक गिनी निकालकर उनके पैरों पर रख दी, तो उनकी आँखों में एहसान के आँसू छलक आए। हैं, अब भी ऐसे धर्मात्मा जीव संसार में हैं, नहीं तो यह पृथ्वी रसातल न चली जाती! क्या इस वक्त इन्हें सेठजी के कल्याण के लिए अपनी देह का

सेर पाव सेर रक्त भी देना पड़ता, तो भी शौक से दे देते। गद्गद कंठ से बोले—इसका तो कुछ काम न था, सेठजी! मैं भिक्षुक नहीं हूँ, आपका सेवक हूँ।

सेठजी श्रद्धा विनय-पूर्ण शब्दों में बोले—भगवन्, इसे स्वीकार कीजिए। यह दान नहीं, भेंट है। मैं भी आदमी पहचानता हूँ। बहुतेरे साधु-संत, योगी-यती, देश और धर्म के सेवक आते रहते हैं, पर न जाने क्यों किसी के प्रति मेरे मन में श्रद्धा नहीं उत्पन्न होती। उनसे किसी तरह पिंड छुड़ाने की पड़ जाती है। आपका संकोच देखकर मैं समझ गया कि आपका यह पेशा नहीं है। आप विद्वान् हैं, धर्मात्मा हैं, पर किसी संकट में पड़े हुए हैं। इस तुच्छ भेंट को स्वीकार कीजिए, और मुझे आशीर्वाद दीजिए।

(७)

पंडितजी दवाएँ लेकर घर चले, तो हर्ष, उल्लास और विजय से उनका हृदय उछला पड़ता था। हनुमान् भी संजीवन-बूटी लाकर इतने प्रसन्न न हुए होंगे। ऐसा सच्चा आनंद उन्हें कभी प्राप्त न हुआ था। उनके हृदय में इतने पवित्र भावों का संचार कभी न हुआ था।

दिन बहुत थोड़ा रह गया था। सूर्यदेव अविरल गति से पश्चिम की ओर दौड़े चले जाते थे। क्या उन्हें भी किसी रोगी की सेवा करनी थी? वह बड़े वेग से दौड़ते हुए पर्वत की आड़ में छिप गए। पंडितजी और भी फुर्ती से पाँव बढ़ाने लगे, मानो उन्होंने सूर्यदेव को पकड़ लेने की ठानी हो।

देखते-देखते अँधेरा छा गया। आकाश में दो-एक तारे दिखाई देने लगे। अभी दस कोस की मंजिल बाकी थी। जिस तरह काली घटा को सिर पर मँडराते देखकर गृहिणी दौड़-दौड़कर सुखावन समेटने लगती

है इसी भाँति लीलाधर ने दौड़ना शुरू किया। उन्हें अकेले पड़ जाने का भय न था, भय था अँधेरे में राह भूल जाने का। दाहने-बाएँ बस्तियाँ छूटती जाती थीं। पंडितजी को ये गाँव इस समय बहुत ही सुहावने मालूम होते थे। कितने आनंद से लोग अलाव के सामने बैठे ताप रहे हैं।

सहसा उन्हें एक कुत्ता दिखलाई दिया। न-जाने किधर से आकर वह उनके सामने पगडंडी पर चलने लगा। पंडितजी चौंक पड़े, पर एक क्षण में उन्होंने कुत्ता को पहचान लिया। वह बूढ़े चौधरी का कुत्ता मोती था। वह गाँव छोड़कर आज इधर इतनी दूर कैसे आ निकला? क्या वह जानता था कि पंडितजी दवा लेकर आ रहे होंगे, कहीं रास्ता न भूल जायँ? कौन जानता है, पंडितजी ने एक बार मोती कहकर पुकारा तो कुत्ते ने दुम हिलाई, पर रुका नहीं। वह इससे अधिक परिचय देकर समय नष्ट न करना चाहता था। पंडितजी को ज्ञान हुआ कि ईश्वर मेरे साथ हैं, वही मेरी रक्षा कर रहे हैं। अब उन्हें कुशल से घर पहुँचने का विश्वास हो गया।

दस बजते बजते पंडितजी घर पहुँच गए।

❀ ❀ ❀ ❀ ❀ ❀

रोग असाध्य न था पर यश पंडितजी को बड़ा था। एक सप्ताह के बाद दोनों रोगी चंगे हो गए। पंडितजी की कीर्ति दूर दूर तक फैल गई। वह यमदेवता से घोर संग्राम करके इन आदमियों को बचा लिए थे। उन्होंने देवताओं पर भी विजय पाई थी—असम्भव को सम्भव कर दिखाया था। वह साक्षात् भगवान् थे। उनके दर्शनों के लिए लोग दूर दूर से आने लगे। किंतु पंडितजी को अपनी कीर्ति से इतना आनन्द न होता था, जितना रोगियों को चलते-फिरते देखकर।

चौधरी ने कहा—महाराज, तुम साक्षात भगवान हो। तुम न आ जाते तो हम न बचते।

पंडितजी बोले—मैंने कुछ नहीं किया। यह सब ईश्वर की दया है।

चौधरी—अब हम तुम्हें कभी न जाने देंगे। जाकर अपने बाल बच्चों को ले आओ।

पंडित—हाँ, मैं भी यही सोच रहा हूँ। तुमको छोड़कर अब नहीं जा सकता।

(८)

मुल्लाओं ने मैदान खाली पाकर आसपास के देहातों में खूब ज़ोर बाँध रखा था। गाँव के गाँव मुसलमान होते जाते थे। उधर हिन्दू सभा ने सन्नाटा खींच लिया था। किसी की हिम्मत न पड़ती थी कि इधर आवे। लोग दूर बैठे हुए मुसलमानों पर गोला बारूद चला रहे थे। इस हत्या का बदला कैसे लिया जाय, यही उनके सामने सबसे बड़ी समस्या थी। अधिकारियों के पास बार बार प्रार्थना-पत्र भेजे जा रहे थे कि इस मामले की छान बीन की जाय, और बार बार यही जवाब मिलता था कि हत्याकारियों का पता नहीं चलता। उधर पण्डितजी के स्मारक के लिए चन्दा भी जमा किया जा रहा था।

मगर इस नई ज्योति ने मुल्लाओं का रङ्ग फीका कर दिया। यहाँ एक ऐसे देवता का अवतार हुआ था, जो मुर्दों को जिला देता था, जो अपने भक्तों के कल्याण के लिए अपने प्राणों का बलिदान कर सकता था। मुल्लाओं के यहाँ यह सिद्धि कहाँ, यह विभूति कहाँ, यह चमत्कार कहाँ? इस ज्वलन्त उपकार के सामने जन्नत और अखूवत (भ्रातृभाव) की कोरी दलीलें कब ठहर सकती थीं? पण्डितजी अब वह ब्राह्मणत्व पर घमण्ड करनेवाले पण्डितजी न थे। उन्होंने शूद्रों और नीचों

का आदर करना सीख लिया था। उन्हें छाती से लगाते हुए अब पण्डितजी को घृणा न होती थी। अपना घर अँधेरा पाकर ही ये इसलामी दीपक की ओर झुके थे। जब अपने घर में सूर्य का प्रकाश हो गया, तो इन्हें दूसरों के यहाँ जाने की क्या जरूरत थी। सनातनधर्म की विजय हो गई। गाँव-गाँव में मन्दिर बनने लगे और शाम-सवेरे मन्दिरों से शंख और घण्टे की ध्वनि सुनाई देने लगी। लोगों के आचरण आप-ही-आप सुधरने लगे। पण्डितजी ने किसी को शुद्ध नहीं किया। उन्हें अब शुद्धि का नाम लेते शर्म आती थी—मैं भला इन्हें क्या शुद्ध करूँगा पहले अपने को तो शुद्ध कर लूँ। ऐसी निर्मल, पवित्र आत्माओं को शुद्धि के ढोंग से अपमानित नहीं कर सकता।

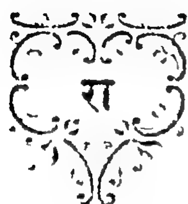
यही मन्त्र था, जो उन्होंने उन चाँडालों से सीखा था, और इसी के बल से वह अपने धर्म की रक्षा करने में सफल हुए थे।

पण्डितजी अभी जीवित हैं, पर अब सपरिवार उसी प्रांत में, उन्हीं भीलों के साथ, रहते हैं।

—:o:—

कामना-तरु

(१)



राजा इन्द्रनाथ का देहान्त हो जाने के बाद कुँवर राजनाथ को शत्रुओं ने चारों ओर से ऐसा दबाया कि उन्हें अपने प्राण लेकर एक पुराने सेवक की शरण जाना पड़ा जो एक छोटे से गाँव का जागीरदार था। कुँवर स्वभाव ही से शांति-प्रिय, रसिक, हँस-खेल कर समय काटनेवाले युवक थे। रण-क्षेत्र की अपेक्षा कवित्व के क्षेत्र में अपना चमत्कार दिखाना उन्हें अधिक प्रिय था। रसिकजनों के साथ, किसी वृक्ष के नीचे बैठे हुए, काव्य-चर्चा करने में उन्हें जो आनन्द मिलता था वह शिकार या राज-दरबार में नहीं। इस पर्वत-मालाओं से घिरे हुए गाँव में आकर उन्हें जिस शांति और आनन्द का अनुभव हुआ उसके बदले में वह ऐसे-ऐसे कई राज त्याग कर सकते थे। यह पर्वत-मालाओं की मनोहर छटा, यह नेत्र-रंजक हरियाली, यह जल-प्रवाह की मधुर वीणा, यह पक्षियों की मीठी बोलियाँ, यह मृग-शावकों की छलाँगें, यह बछड़ों की कुलेलें, यह ग्राम-निवासियों की बालोचित सरलता, यह रमणियों की संकोचमय चपलता, ये सभी बातें उनके लिए नई थीं। पर इन सबों से बढ़कर जो वस्तु उनको आकर्षित करती थी, वह जागीरदार की युवती कन्या चन्दा थी।

चन्दा घर का सारा कामकाज आप ही करती थी। उसको माता की गोद में खेलना नसीब ही न हुआ था। पिता की सेवा ही में रत रहती थी। उसका विवाह इसी साल होनेवाला था कि इसी बीच में कुँवर

ने आकर उसके जीवन में नवीन भावनाओं और नवीन आशाओं को अंकुरित कर दिया। उसने अपने पति का जो चित्र मन में खींच रक्खा था, वही मानो रूप धारण करके उसके सम्मुख आ गया। कुँअर की आदर्श रमणी भी चंदा ही के रूप में अवतरित हो गई। लेकिन कुँअर समझते थे मेरे ऐसे भाग्य कहाँ? चन्दा भी समझती थी कहाँ यह और कहाँ मैं!

(२)

दोपहर का समय था और जेठ का महीना। खपरैल का घर भट्ठी की भाँति तपने लगा। खस की टट्टियों और तहखानों में रहनेवाले राजकुमार का चित्त गरमी से इतना बेचैन हुआ कि वह बाहर निकल आए और सामने के बाग में जाकर एक घने वृक्ष की छाँह में बैठ गए। सहसा उन्होंने देखा, चन्दा नदी से जल की गागर लिए चली आ रही है। नीचे जलती हुई रेत थी, ऊपर जलता हुआ सूर्य। लू से देह झुलसी जाती थी। कदाचित् इस समय प्यास से तड़पते हुए आदमी की भी नदी तक जाने की हिम्मत न पड़ती। चन्दा क्यों जल लेने गई थी? घर में पानी भरा हुआ है। फिर इस समय वह क्यों पानी लेने निकली?

कुँअर दौड़कर उसके पास जा पहुँचे और उसके हाथ से गागर छीन लेने की चेष्टा करते हुए बोले—मुझे दे दो और भागकर छाँह में चली जाओ। इस समय पानी का क्या काम था?

चन्दा ने गागर न छोड़ी। सिर से खिसका हुआ अंचल सँभाल कर बोली—तुम इस समय कैसे आ गए? शायद मारे गरमी के अन्दर न रह सके।

कुँअर—मुझे दे दो, नहीं मैं छीन लूँगा।

चन्दा ने मुस्किराकर कहा—राजकुमारों को गागर लेकर चलना शोभा नहीं देता।

कुँअर ने गागर का मुँह पकड़कर कहा—इस अपराध का बड़ा दंड सह चुका हूँ। चन्दा, अब तो अपने को राजकुमार कहने में भी लज्जा आती है।

चन्दा—देखो भाग में खुद हैरान होते हो और मुझे भी हैरान करते हो। गागर छोड़ दो। सच कहती हूँ, पूजा का जल है।

कुँअर—क्या मेरे ले जाने से पूजा का जल अपवित्र हो जायगा?

चन्दा—अच्छा भाई नहीं मानते, तो तुम्हीं ले चलो। हाँ नहीं तो!

कुँअर गागर लेकर आगे आगे चले। चन्दा पीछे हो ली। बगीचे में पहुँचे, तो चन्दा एक छोटे से पौधे के पास रुक कर बोली—इसी देवता की पूजा करनी है, गागर रख दो। कुँअर ने आश्चर्य से पूछा—यहाँ कौन देवता है चन्दा? मुझे तो नहीं नजर आता।

चन्दा ने पौधे को सींचते हुए कहा—यही तो मेरा देवता है!

पानी पाकर पौधे की मुरझाई हुई पत्तियाँ हरी हो गईं मानो उनकी आँखें खुल गई हों।

कुँअर ने पूछा—यह पौधा क्या तुमने लगाया है चन्दा?

चन्दा ने पौधे को एक सीधी लकड़ी से बाँधते हुए कहा—हाँ, उसी दिन तो जब तुम यहाँ आए। यहाँ पहले मेरी गुड़ियों का घरौंदा था। मैंने गुड़ियों पर छाँह करने के लिए एक अमोला लगा दिया था। फिर मुझे इसकी याद नहीं रही। घर के काम धंधे में भूल गई। जिस दिन तुम यहाँ आए, मुझे न जाने क्यों इस पौधे की याद आ गई। मैंने आकर देखा, तो यह सूख गया था। मैंने तुरन्त पानी लाकर इसे सींचा, तो कुछ-कुछ ताज़ा होने लगा। तब से रोज इसे सींचती हूँ। देखो कितना हरा-भरा हो गया है।

यह कहते-कहते उसने सिर उठा कर कुँअर की ओर ताकते

कहा—और सब काम भूल जाऊँ, पर इस पौधे को पानी देना नहीं भूलती। तुम्हीं इसके प्राण-दाता हो। तुम्हीं ने आकर इसे जिला दिया, नहीं तो बेचारा सूख गया होता। यह तुम्हारे शुभागमन का स्मृति-चिह्न है। जरा इसे देखो। मालूम होता है, हँस रहा है। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि यह मुझसे बोलता है। सच कहती हूँ, कभी यह रोता है, कभी हँसता है, कभी रूठता है, आज तुम्हारा लाया हुआ पानी पाकर यह फूला नहीं समाता। एक एक पत्ता तुम्हें धन्यवाद दे रहा है।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा मानो वह पौधा कोई नन्हासा क्रीड़ाशील बालक है। जैसे चुम्बन से प्रसन्न होकर बालक गोद में चढ़ने के लिए दोनों हाथ फैला देता है, उसी भाँति यह पौधा भी हाथ फैलाए जान पड़ा। उसके एक एक अणु में चन्दा का प्रेम झलक रहा था।

चन्दा के घर में खेती के सभी औजार थे। कुँअर एक फावड़ा उठा लाए और पौधे का एक थाला बनाकर चारों ओर ऊँची मेंड उठा दी। फिर खुरपी लेकर अन्दर की मिट्टी को गोड़ दिया। पौधा और भी लहलहा उठा।

चन्दा बोली—कुछ सुनते हो, क्या कह रहा है?

कुँअर ने मुसकिराकर कहा—हाँ! कहता है अम्माँ की गोद में बैठूँगा।

चन्दा—नहीं, कह रहा है, इतना प्रेम करके फिर भूल न जाना।

(२)

मगर कुँअर को अभी राजपुत्र होने का दंड भोगना बाकी था। शत्रुओं को न जाने कैसे इसकी टोह मिल गई। इधर तो हितचिन्तकों के आग्रह से विवश होकर बूढ़ा कुबेरसिंह चन्दा और कुँअर के विवाह की तैयारियाँ कर रहा था, उधर शत्रुओं का एक दल सिर पर आ पहुँचा।

कुँअर ने इस पौधे के आसपास फूल-पत्ते लगाकर एक फुलवारी-सी बना दी थी। पौधे को सींचना अब उनका काम था। प्रातःकाल वह कंधे पर काँवर रखे नदी से पानी ला रहे थे कि दस-बारह आदमियों ने उन्हें रास्ते में घेर लिया। कुबेरसिंह तलवार लेकर दौड़ा, लेकिन शत्रुओं ने उसे मार गिराया। अकेला, शस्त्रहीन कुँअर क्या करता। कंधे पर काँवर रखे हुए बोला—अब क्यों मेरे पीछे पड़े हो भाई? मैंने तो सब कुछ छोड़ दिया।

सरदार बोला—हमें आपको पकड़ ले जाने का हुक्म है।

"तुम्हारा स्वामी मुझे इस दशा में भी नहीं देख सकता और आप धर्म समझता, तो कुबेरसिंह की तलवार मुझे दे दो। अपनी स्वाधीनता के लिए लड़कर प्राण दूँ।"

इसका उत्तर यही मिला कि सिपाहियों ने कुँअर को पकड़कर मुश्कें कस दीं और उन्हें एक घोड़े पर बिठाकर घोड़े को भगा दिया। काँवर वहीं पड़ी रह गई।

उसी समय चंदा घर से निकली। देखा, काँवर पड़ी हुई है और कुँअर को लोग घोड़े पर बिठाए लिए जा रहे हैं। चोट खाए हुए पक्षी की भाँति वह कई कदम दौड़ी, फिर गिर पड़ी। उसकी आँखों में अँधेरा छा गया।

सहसा उसकी दृष्टि पिता की लाश पर पड़ी। [illegible] और लाश के पास जा पहुँची। कुबेर अभी मरा न था। प्राण आँखों में अटके हुए थे।

चन्दा को देखते ही [illegible] स्वर में बोला—बेटी, कुँअर! इसके आगे वह कुछ न कह सका। प्राण निकल गए पर इस एक शब्द—"कुँअर" ने उसका आशय प्रकट कर दिया।

(४)

बीस वर्ष बीत गए! कुँअर कैद से न छूट सके।

यह एक पहाड़ी किला था। जहाँ तक निगाह जाती पहाड़ियाँ ही नजर आतीं। किले में उन्हें कोई कष्ट न था। नौकर-चाकर, भोजन-वस्त्र, सैर-शिकार, किसी बात की कमी न थी। पर उस वियोगाग्नि को कौन शांत करता, जो नित्य कुँअर के हृदय में जला करती थी। जीवन में अब उनके लिए कोई आशा न थी कोई प्रकाश न था। अगर कोई इच्छा थी, तो यही कि एक बार उस प्रेम-तीर्थ की यात्रा कर लें, जहाँ उन्हें वह सब कुछ मिला जो मनुष्य को मिल सकता है। हाँ, उनके मन में एक-मात्र यही अभिलाषा थी कि उस पवित्र स्मृतियों से रंजित भूमि के दर्शन करके जीवन का उसी नदी के तट पर अंत कर दे। वही नदी का किनारा, वही वृक्षों का कुंज, वही चन्दा का छोटा-सा सुन्दर घर, उसकी आँखों में फिरा करता और वह पौधा जिसे उन दोनों ने मिल कर सींचा था, उसमें तो मानो उसके प्राण ही बसते थे। क्या वह दिन भी आएगा जब वह उस पौधे को हरी हरी पत्तियों से लदा हुआ देखेगा! कौन जाने वह अब है भी या सूख गया। कौन अब उसको सींचता होगा। चन्दा इतने दिनों अविवाहिता थोड़े ही बैठी होगी। ऐसा सम्भव भी तो नहीं। उसे अब मेरी सुधि भी न होगी। हाँ शायद कभी अपने घर की याद खींच लाती हो, तो पौधे को देखकर उसे मेरी याद आ जाती हो। मुझ जैसे अभागे के लिए इससे अधिक वह और कर ही क्या सकती है। उस भूमि को एक बार देखने के लिए वह अपना जीवन दे सकता था, पर यह अभिलाषा न पूरी होती थी।

आह! एक युग बीत गया शोक और नैराश्य ने उठती जवानी को कुचल दिया। न आँखों में ज्योति रही न पैरों में शक्ति। जीवन क्या

था, एक दुखदायी स्वप्न था। उस सघन अंधकार में उसे कुछ न सूझता था, बस जीवन का आधार एक अभिलाषा थी, एक सुखद स्वप्न जो जीवन में न-जाने कब उसने देखा था। एक बार फिर वही स्वप्न देखना चाहता था। फिर, उसकी अभिलाषाओं का अंत हो जायगा, उसे कोई इच्छा न रहेगी। सारा अनंत भविष्य, सारी अनंत चिंताएँ इसी एक स्वप्न में लीन हो जाती थीं।

उसके रक्षकों को अब उसकी ओर से कोई शंका न थी। उन्हें उस पर दया आती थी। रात को पहरे पर केवल कोई एक आदमी रह जाता था और लोग मीठी नींद सोते थे। कुँवर भाग जा सकता है इसकी कोई संभावना, कोई शंका न थी। यहाँ तक कि एक दिन यह एक सिपाही सा निश्शंक होकर बंदूक लिए लेट रहा। निद्रा किसी हिंसक पशु की भाँति ताक लगाए बैठी थी। लेटते ही टूट पड़ी। कुँवर ने सिपाही की नाक की आवाज सुनी। उनका हृदय बड़े वेग से उछलने लगा। यह अवसर आज कितने दिनों के बाद मिला था। वह उठे, मगर पाँव थर थर काँप रहे थे। बरामदे के नीचे उतरने का साहस न हो सका। कहीं इसकी नींद खुल गई तो? हिंसा उसकी सहायता कर सकती थी। सिपाही की बगल में उसकी तलवार पड़ी थी पर प्रेम का हिंसा से बैर है। कुँवर ने सिपाही को जगा दिया। वह चौंककर उठ बैठा। रहा सहा शक भी उसके दिल से निकल गया। दूसरी बार जो सोया तो खर्राटे लेने लगा।

सबेरे जब उसकी निद्रा टूटी, तो उसने चौंककर कुँवर के कमरे में झाँका। कुँवर का पता न था।

कुँवर इस समय हवा के घोड़ों पर सवार, कल्पना की दुनिया में उड़ा जा रहा था—उस स्थान को जहाँ उसने सुख-स्वप्न देखा था।

किले में चारों ओर तलाश हुई, नायक ने सवार दौड़ाए, पर कहीं पता न चला।

(५)

पहाड़ी रास्तों का काटना कठिन, उस पर अज्ञातवास की कैद, मृत्यु के दूत पीछे लगे हुए जिनसे बचना मुश्किल। कुँअर को कामना-तीर्थ में महीनों लग गए। जब यात्रा पूरी हुई तो कुँअर में एक कामना के सिवा और कुछ शेष न था। दिन-भर की कठिन यात्रा के बाद जब वह उस स्थान पर पहुँचे तो सन्ध्या हो गई थी। वहाँ बस्ती का नाम भी न था। दो चार टूटे फूटे झोपड़े उस बस्ती के चिह्न-स्वरूप शेष रह गए थे। वह झोपड़ा जिसमें कभी प्रेम का प्रकाश था, जिसके नीचे उन्होंने जीवन के सुखमय दिन काटे थे, जो उनकी कामनाओं का आगार और उनकी उपासना का मंदिर था, अब उनकी अभिलाषाओं की भाँति भग्न हो गया था। झोपड़े की भग्नावस्था मूक भाषा में अपनी करुण कथा सुना रही थी। कुँअर उसे देखते ही "चंदा चंदा!" पुकारता हुआ दौड़ा। उसने उस रज को माथे पर मला, मानो किसी देवता की विभूति हो, और उसकी टूटी हुई दीवारों से चिमट कर बड़ी देर तक रोता रहा। हाय रे अभिलाषा! वह रोने ही के लिए इतनी दूर से आया था? रोने ही की अभिलाषा इतने दिनों से उसे विकल कर रही थी? पर इस रोने में कितना स्वर्गीय आनन्द था। क्या समस्त संसार का सुख इन आँसुओं की तुलना कर सकता था?

तब वह झोपड़े से निकला। सामने मैदान में एक वृक्ष हरी हरी नवीन पल्लवों को गोद में लिए, मानो उसका स्वागत करने को खड़ा था। यह वही पौधा है, जिसे आज से बीस वर्ष पहले दोनों ने आरोपित किया था। कुँअर उन्मत्त की भाँति दौड़ा और जाकर उस वृक्ष से लिपट

गया, मानो कोई पिता अपने मातृहीन पुत्र को छाती से लगाए हुए हो। यह सच्चे प्रेम की निशानी है, सच्चे अमर प्रेम की जो इतने दिनों के बाद आज इतना विशाल हो गया है। कुँवर का हृदय ऐसा फड़क उठा मानो इस वृक्ष को अपने अंदर रख लेगा, जिसमें उसे हवा का झोंका भी न लगे। उसके पत्ते पत्ते पर चंदा की स्मृति बैठी हुई थी। पक्षियों का इतना रम्य संगीत क्या कभी उसने सुना था! उसके हाथ में दम न था, सारी देह भूख-प्यास और थकान से शिथिल हो रही थी। पर, वह उस वृक्ष पर चढ़ गया, इतनी फुर्ती से चढ़ा कि बन्दर भी न चढ़ता। सबसे ऊँची फुनगी पर बैठकर उसने चारों ओर गर्व से दृष्टि डाली। यही उसकी कामनाओं का स्वर्ग था। सारा दृश्य चन्द्रमय हो रहा था। दूर की नीली पर्वत श्रेणियों पर चंदा बैठी गा रही थी, आकाश में तैरनेवाली लालिमामयी नौकाओं पर चंदा ही उड़ी जाती थी। सूर्य की श्वेत-पीत प्रकाश की रेखाओं पर चंदा ही बैठी हँस रही थी। कुँवर के मन में आया, पक्षी होता तो इन्हीं डालियों पर बैठा हुआ जीवन के दिन पूरे करता।

जब अँधेरा हो गया, तो कुँवर नीचे उतरा और उसी वृक्ष के नीचे [illegible] पत्तियाँ बिछाकर [illegible] और लेटा। [illegible] [illegible] था, [illegible] [illegible] [illegible] जायगा। [illegible] [illegible]।

([illegible])

[illegible]

[illegible]

[illegible]

हिल उठी, कुँअर का हृदय इस तरह ऐंठने लगा मानो वह फट जायगा। इस स्वर में करुणा और वियोग के तीर-से भरे हुए थे। आह ! पक्षी, तेरा जोड़ा भी अवश्य बिछुड़ गया है, नहीं तेरे राग में इतनी व्यथा, इतना विषाद, इतना रुदन कहाँ से आता ! कुँअर के हृदय के टुकड़े हुए जाते थे, एक-एक स्वर तीर की भाँति दिल को छेदे डालता था। वहाँ बैठे न रह सके। उठकर एक आत्म विस्मृत की दशा में दौड़े हुए गोपद्ध में गए, वहाँ से फिर वृक्ष के नीचे आए। उस पक्षी को कैसे पाएँ ! कहीं दिखाई नहीं देता।

पक्षी का गाना बंद हुआ, तो कुँअर को नींद आ गई। उन्हें स्वप्न में ऐसा जान पड़ा कि वही पक्षी उनके समीप आया। कुँअर ने ध्यान से देखा तो वह पक्षी न था, चन्दा थी, हाँ प्रत्यक्ष चंदा थी।

कुँअर ने पूछा—चंदा यह पक्षी यहाँ कहाँ।

चंदा ने कहा—मैं ही तो वह पक्षी हूँ।

कुँअर—तुम पक्षी हो ! क्या तुम्हीं गा रही थीं ?

चंदा—हाँ प्रियतम मैं ही गा रही थी। इसी तरह रोते एक युग बीत गया।

गया, मानो कोई पिता अपने मातृहीन पुत्र को छाती से लगाए हुए हो। यह उसी प्रेम की निशानी है, उसी अक्षय प्रेम की जो इतने दिनों के बाद आज इतना विशाल हो गया है। कुँअर का हृदय ऐसा फूल उठा मानो इस वृक्ष को अपने अंदर रख लेगा, जिसमें इसे हवा का झोंका भी न लगे। उसके एक एक पल्लव पर चंदा की स्मृति बैठी हुई थी। पक्षियों का इतना रम्य संगीत क्या कभी उसने सुना था! उसके हाथों में दम न था, सारी देह भूख प्यास और थकन से शिथिल हो रही थी। पर, वह उस वृक्ष पर चढ गया, इतनी फुर्ती से चढ़ा कि बंदर भी न चढता। सबसे ऊँची फुनगी पर बैठकर उसने चारों ओर गर्व पूर्ण दृष्टि डाली। यही उसकी कामनाओं का स्वर्ग था। सारा दृश्य चंदामय हो रहा था। दूर की नीली पर्वत श्रेणियों पर चंदा बैठी गा रही थी, आकाश में तैरनेवाली लालिमामयी नौकाओं पर चंदा ही उडी जाती थी। सूर्य की श्वेत पीत प्रकाश की रेखाओं पर चंदा ही बैठी हँस रही थी। कुँअर के मन में आया, पक्षी होता तो इन्हीं डालियों पर बैठा हुआ जीवन के दिन पूरे करता।

जब अँधेरा हो गया, तो कुँअर नीचे उतरा और उसी वृक्ष के नीचे थोडी-सी भूमि झाडकर, पत्तियों की शय्या बनाई और लेटा। यही उसके जीवन का स्वर्णस्वप्न था, आह यही वैराग्य! अब वह इस वृक्ष की शरण छोडकर कहीं न जायगा। दिल्ली के तख्त के लिए भी वह इस आश्रम को न छोडेगा।

(६)

उसी स्निग्ध, अमल चाँदनी में सहसा एक पक्षी आकर उस वृक्ष पर बैठा और दर्द में डूबे हुए स्वरों में गाने लगा। ऐसा जान पडा मानो वह वृक्ष सिर धुन रहा है। वह नीरव रात्रि उस वेदनामय संगीत से

हिल उठी, कुँअर का हृदय इस तरह ऐंठने लगा मानो वह फट जायगा। इस स्वर में करुणा और वियोग के तीर-से भरे हुए थे। आह! पक्षी, तेरा जोड़ा भी अवश्य बिछुड़ गया है, नहीं तेरे राग में इतनी व्यथा, इतना विषाद, इतना रुदन कहाँ से आता! कुँअर के हृदय के टुकड़े हुए जाते थे, एक-एक स्वर तीर की भाँति दिल को छेदे डालता था। वहाँ बैठे न रह सके। उठकर एक आत्म विस्मृत की दशा में दौड़े हुए झोंपड़े में गए, वहाँ से फिर वृक्ष के नीचे आए। उस पक्षी को कैसे पाएँ! वहीं दिखाई नहीं देता।

पक्षी का गाना बंद हुआ, तो कुँअर को नींद आ गई। उन्हें स्वप्न में ऐसा ज्ञान पड़ा कि वही पक्षी उनके समीप आया। कुँअर ने ध्यान से देखा तो वह पक्षी न था, चन्दा थी, हाँ प्रत्यक्ष चंदा थी।

कुँअर ने पूछा—चंदा यह पक्षी यहाँ कहाँ।

चंदा ने कहा—मैं ही तो वह पक्षी हूँ।

कुँअर—तुम पक्षी हो! क्या तुम्हीं गा रही थीं?

चंदा—हाँ प्रियतम, मैं ही गा रही थी। इसी तरह रोते एक युग बीत गया।

कुँअर—तुम्हारा घोंसला कहाँ है?

चंदा—इसी झोंपड़े में जहाँ तुम्हारी खाट थी। उसी खाट के बान से मैंने अपना घोंसला बनाया है।

कुँअर—और तुम्हारा जोड़ा कहाँ है?

चंदा—मैं अकेली हूँ। चंदा को अपने प्रियतम के स्मरण करने में, अपने प्रियतम के लिए रोने में जो सुख है वह जोड़े में नहीं, मैं इसी तरह अकेली रहूँगी और अकेली मरूँगी।

कुँअर—मैं क्या पक्षी नहीं हो सकता?

चंदा चली गई। कुँअर की नींद खुल गई। ऊषा की लालिमा आकाश पर छाई हुई थी और वह चिड़िया, कुँअर के शय्या के समीप एक डाल पर बैठी चहक रही थी। अब उन संगीत में करुणा न थी विलाप न था, उसमें आनन्द था, चापल्य था, सारल्य था, वह वियोग का करुण क्रंदन नहीं, मिलन का मधुर संगीत था।

कुँअर सोचने लगे, इस स्वप्न का क्या रहस्य है ?

(७)

कुँअर ने शय्या से उठते ही एक झाड़ू बनाया और उस झोपड़े को साफ करने लगे। उनके जीतेजी इसकी यह भग्न दशा नहीं रह सकती। वह इसकी दीवारें उठाएँगे, इस पर छप्पर डालेंगे, इसे लीपेंगे। इसमें उनकी चंदा स्मृति वास करती है। झोपड़े के एक कोने में वह काँवर रक्खी हुई थी जिस पर पानी ला लाकर वह इस वृक्ष को सींचते थे। उन्होंने काँवर उठा ली और पानी लाने चले। दो दिन से कुछ भोजन न किया था। रात को भूख लगी हुई थी, पर इस समय भोजन की बिलकुल इच्छा न थी। देह में एक अद्भुत स्फूर्ति का अनुभव होता था। उन्होंने नदी से पानी ला ला मिट्टी भिगोना शुरू किया। दौड़ जाते थे और दौड़े आते थे। इतनी शक्ति उन्हें कभी न थी।

एक ही दिन में इतनी दीवार उठ गई, जितनी चार मजदूर भी न उठा सकते थे। और कितनी सीधी, चिकनी दीवार थी कि कारीगर भी देखकर लज्जित हो जाता। प्रेम की शक्ति अपार है।

सन्ध्या हो गई। चिड़ियों ने बसेरा लिया। वृक्षों ने भी आँखें बन्द कीं, मगर कुँअर को आराम कहाँ। तारों के मलिन प्रकाश में मिट्टी के रद्दे रक्खे जा रहे थे। हाय रे कामना! क्या तू इस बेचारे के प्राण ही लेकर छोड़ेगी ?

वृक्ष पर पक्षी का मधुर स्वर सुनाई दिया। कुँअर के हाथ से घड़ा छूट पड़ा। हाथ और पैरों में मिट्टी लपेटे वह वृक्ष के नीचे जाकर बैठ गए। इस स्वर में कितना लालित्य था, कितना उल्लास, कितनी ज्योति। मानव संगीत इसके सामने बेसुरा आलाप था। उसमें यह जागृति, यह अमृत, यह जीवन कहाँ। संगीत के आनन्द में विस्मृत है, पर वह विस्मृति कितनी स्मृतिमय होती है, अतीत को जीवन और प्रकाश से रञ्जित करके प्रत्यक्ष कर देने की शक्ति, संगीत के सिवा और कहाँ है? कुँअर के हृदय-नेत्रों के सामने वह दृश्य आ खड़ा हुआ, जब चन्दा इसी पौधे को नदी से जल ला-लाकर सींचती थी। हाय, क्या वे दिन फिर आ सकते हैं!

सहसा एक बटोही आकर खड़ा हो गया और कुँअर को देखकर वह प्रश्न करने लगा, जो साधारणतः दो अपरिचित प्राणियों में हुआ करते हैं—कौन हो, कहाँ से आते हो, कहाँ जाओगे। पहले वह भी इसी गाँव में रहता था, पर जब गाँव उजड़ गया, तो समीप के एक दूसरे गाँव में जा बसा था। अब भी उसके खेत यहाँ थे। रात को जङ्गली पशुओं से अपने खेतों की रक्षा करने के लिए वह यहीं आकर सोता था।

कुँअर ने पूछा—तुम्हें मालूम है, इस गाँव में एक कुबेरसिंह ठाकुर रहते थे?

किसान ने बड़ी उत्सुकता से कहा—हाँ हाँ भाई, जानता क्यों नहीं! बेचारे यहीं तो मारे गए। तुमसे क्या उनकी जान पहचान थी?

कुँअर—हाँ, उन दिनों कभी कभी आया करता था। मैं भी राजा की सेना में नौकर था। उनके घर में और कोई न था?

किसान—अरे भाई कुछ न पूछो, बड़ी करुण कथा है। उसकी स्त्री तो पहले ही मर चुकी थी। केवल लड़की बच रही थी। आह! कैसी

सुरीला, कैसी सुघड़ वह लड़की थी ! उसे देख कर आँखों में ज्योति आ जाती थी। बिलकुल स्वर्ग की देवी जान पड़ती थी। जब कुबेरसिंह जीता था, तभी कुँअर इन्द्रनाथ यहाँ भाग कर आए थे और उसके यहाँ रहे थे। उस लड़की की कुँअर से कहीं बातचीत हो गई। जब कुँअर को शत्रुओं ने पकड़ लिया, तो चन्दा घर में अकेली रह गई। गाँववालों ने बहुत चाहा कि उसका विवाह हो जाय। उसके लिए वरों का तोड़ा न था भाई। ऐसा कौन था जो उसे पाकर अपने को धन्य न मानता। पर वह किसी से विवाह करने पर राजी न हुई। यह पेड़ जो तुम देख रहे हो, तब छोटासा पौधा था। इसके आसपास फूलों की कई और क्यारियाँ थीं। इन्हीं को गोड़ने, निराने, सींचने में उसका दिन कटता था। बस यही कहती कि हमारे कुँअर साहब आते होंगे।

कुँअर की आँखों से आँसू की वर्षा होने लगी। मुसाफिर ने जरा दम लेकर कहा—दिन-दिन घुलती जाती थी। तुम्हें विश्वास न आएगा भाई, उसने दस साल इसी तरह काट दिए। इतनी दुर्बल हो गई थी कि पहचानी न जाती थी। पर अब भी उसे कुँअर साहब के आने की आशा बनी हुई थी। आखिर एक दिन इसी वृक्ष के नीचे उसकी लाश मिली। ऐसा प्रेम कौन करेगा भाई! कुँअर न-जाने मरे कि जिए, कभी उन्हें इस विरहिणी की याद भी आती है कि नहीं, पर इसने तो प्रेम को ऐसा निभाया जैसा चाहिए।

कुँअर को ऐसा जान पड़ा मानो हृदय फटा जा रहा है। वह कलेजा थाम कर बैठ गए। मुसाफिर के हाथ में एक सुलगता हुआ उपला था। उसने चिलम भरी और दो-चार दम लगाकर बोला—

उसके मरने के बाद यह घर गिर गया। गाँव पहले ही उजाड़ था। अब तो और भी सुनसान हो गया। दो-चार असामी यहाँ आ बैठते

है। अब तो चिड़िए का पूत भी यहाँ नहीं आता। उसके मरने के कई महीने के बाद यही चिड़िया इस पेड़ पर बोलती हुई सुनाई दी। तब से बराबर इसे यहाँ बोलते सुनता हूँ। रात को सभी चिड़ियाँ सो जाती हैं, पर यह रात-भर बोलती रहती है। इसका जोड़ा कभी नहीं दिखाई दिया। बस, फुटैल है। दिन भर उसी झोपड़े में पड़ी रहती है। रात को इस पेड़ पर आ बैठती है। मगर इस समय इसके गाने में कुछ और ही बात है, नहीं तो सुनकर रोना आता है। ऐसा जान पड़ता है मानो कोई कलेजे को मसोस रहा हो। मैं तो कभी-कभी पड़े-पड़े रो दिया करता हूँ। सब लोग कहते हैं कि यह वही चन्दा है। अब भी कुँअर के वियोग में विलाप कर रही है। मुझे भी ऐसा ही जान पड़ता है। आज न जाने क्यों मगन है।

किसान तंबाकू पीकर सो गया। कुँअर कुछ देर तक खोया हुआ-सा खड़ा रहा। फिर धीरे से बोला—चन्दा, क्या सचमुच तुम्हीं हो? मेरे पास क्यों नहीं आती?

एक क्षण में चिड़िया आकर उसके हाथ पर बैठ गई। चन्द्रमा के प्रकाश में कुँअर ने चिड़िया को देखा। ऐसा जान पड़ा मानो उसकी आँखें खुल गई हों, मानो आँखों के सामने से कोई आवरण हट गया हो। पक्षी के रूप में भी चन्दा की मुखाकृति अंकित थी।

दूसरे दिन किसान सोकर उठा, तो कुँअर की लाश पड़ी हुई थी।

(८)

कुँअर अब नहीं हैं, किन्तु उनके झोपड़े की दीवारें बन गई हैं, ऊपर फूस का नया छप्पर पड़ गया है और झोपड़े के द्वार पर फूलों की कई क्यारियाँ लगी हुई हैं। गाँव के किसान इससे अधिक और क्या कर सकते हैं।

उस झोपडे में अब पक्षियों के एक जोडे ने अपना घोंसला बनाया है। दोनों साथ-साथ दाने-चारे की खोज में जाते हैं, साथ साथ आते हैं। रात को दोनों उसी वृक्ष की डाल पर बैठे दिखाई देते हैं। उनका सुरम्य संगीत रात की नीरवता में दूर तक सुनाई देता है। वन के जीव जंतु वह स्वर्गीय गान सुनकर मुग्ध हो जाते हैं।

यह पक्षियों का जोडा कुँअर और चन्दा का जोडा है, इसमें किसी को संदेह नहीं है।

एक बार एक व्याध ने इन पक्षियों को फँसाना चाहा, पर गाँववालों ने उसे मार कर भगा दिया।

The Head Master
Jawahar High School
Bhinasar (Bikaner)
All (India)

सती

(१)



दो शताब्दियों से अधिक बीत गए हैं, पर चितादेवी का नाम चला जाता है। बुन्देलखण्ड के एक बीहड़ स्थान में आज भी मंगलवार को सहस्रों स्त्री-पुरुष चितादेवी की पूजा करने आते हैं। उस दिन यह निर्जन स्थान सोहाने गीतों से गूँज उठता है, टीले और टीकरे रमणियों के रंग-बिरंगे वस्त्रों से सुशोभित हो जाते हैं। देवी का मन्दिर एक बहुत ऊँचे टीले पर बना हुआ है। उसके कलश पर लहराती हुई लाल पताका बहुत दूर से दिखाई देती है। मंदिर इतना छोटा है कि उसमें मुश्किल से एकसाथ दो आदमी समा सकते हैं। भीतर कोई प्रतिमा नहीं है, केवल एक छोटी सी वेदी बनी हुई है। नीचे से मंदिर तक पत्थर का जीना है। भीड़ भाड़ में धक्का खाकर कोई नीचे न गिर पड़े, इसलिए जीने के दोनों तरफ दीवार बनी हुई है। यहीं चितादेवी सती हुई थीं, पर लोक-रीति के अनुसार वह अपने मृत पति के साथ चिता पर नहीं बैठी थीं। उनका पति हाथ जोड़े सामने खड़ा था, पर वह उसकी ओर आँख उठा कर भी न देखती थी। वह पति के शरीर के साथ नहीं उसकी आत्मा के साथ सती हुई। उस चिता पर पति का शरीर न था, उसकी मर्यादा भस्मीभूत हो रही थी।

(२)

यमुना-तट पर कालपी एक छोटा सा नगर है। चिन्ता उसी नगर के एक वीर बुन्देले की कन्या थी। उसकी माता उसकी बाल्यावस्था में ही परलोक सिधार चुकी थीं। उसके पालन-पोषण का भार पिता पर पड़ा। वह संग्राम का समय था, योद्धाओं को कमर खोलने की भी फुरसत न मिलती थी, वे घोड़े की पीठ पर भोजन करते और जीन ही पर झपकियाँ ले लेते थे। चिंता का बाल्यकाल पिता के साथ समर-भूमि में कटा। बाप उसे किसी खोह या वृक्ष की आड़ में छिपाकर मैदान में चला जाता। चिंता निश्शंक भाव से बैठी हुई मिट्टी के किले बनाती और बिगाड़ती। उसके घरौंदे किले होते थे, उसकी गुड़ियाँ ओढ़नी न ओढ़ती थीं। वह सिपाहियों के गुड्डे बनाती और उन्हें रण क्षेत्र में खड़ा करती थी। कभी कभी उसका पिता संध्या-समय भी न लौटता पर चिंता को भय छू तक न गया था। निर्जन स्थान में भूखी-प्यासी रात-रात भर बैठी रह जाती। उसने नेवले और सियार की कहानियाँ कभी न सुनी थीं। वीरों के आत्मोत्सर्ग की कहानियाँ, और वह भी योद्धाओं के मुँह से, सुन सुनकर वह आदर्शवादिनी बन गई थी।

एक बार तीन दिन तक चिंता को अपने पिता की खबर न मिली। वह एक पहाड़ की खोह में बैठी मन-ही-मन एक ऐसा किला बना रही थी, जिसे शत्रु किसी भाँति जीत न सके। दिन-भर वह उसी किले का नक्शा सोचती और रात को उसी किले का स्वप्न देखती। तीसरे दिन संध्या समय उसके पिता के कई साथियों ने आकर उसके सामने रोना शुरू किया। चिन्ता ने विस्मित होकर पूछा—"दादाजी कहाँ हैं? तुम लोग क्यों रोते हो?"

किसी ने इसका उत्तर न दिया। वे जोर से धाड़ें मार-मारकर रोने

लगे। चिन्ता समझ गई कि उसके पिता ने वीर-गति पाई। उस तेरह वर्ष की बालिका की आँखों से आँसू की एक बूँद भी न गिरी, मुख जरा भी मलिन न हुआ, एक आह भी न निकली। हँसकर बोली—"अगर उन्होंने वीर-गति पाई, तो तुम लोग रोते क्यों हो? योद्धाओं के लिए इससे बढ़कर और कौन मृत्यु हो सकती है, इससे बढ़कर उनकी वीरता का और क्या पुरस्कार मिल सकता है? यह रोने का नहीं, आनद मनाने का अवसर है।"

एक सिपाही ने चिन्तित स्वर में कहा—"हमें तुम्हारी चिन्ता है। तुम अब कहाँ रहोगी?"

पिता ने गंभीरता से कहा—"इसकी तुम कुछ चिन्ता न करो दादा! मैं अपने बाप की बेटी हूँ। जो कुछ उन्होंने किया, वही मैं भी करूँगी। अपनी मातृ-भूमि को शत्रुओं के पजे से छुड़ाने में उन्होंने प्राण दे दिए। मेरे सामने भी वही आदर्श है। जाकर अपने आदमियों को सँभालिए। मेरे लिए एक घोड़े और हथियारों का प्रबध कर दीजिए। ईश्वर ने चाहा, तो आप लोग मुझे किसी से पीछे न पावेंगे। लेकिन यदि मुझे पीछे हटते देखना, तो तलवार के एक हाथ से इस जीवन का अत कर देना। यही मेरी आपसे विनय है। जाइए, अब विलम्ब न कीजिए।"

सिपाहियों को चिन्ता के ये वीर वचन सुनकर कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। हाँ, उन्हें यह सदेह अवश्य हुआ कि क्या यह कोमल बालिका अपने संकल्प पर दृढ़ रह सकेगी?

(२)

मिलती रहती थी। उसके सामने वे कैसे कदम पीछे हटाते? जब कोमलांगी युवती आगे बढ़े, तो कौन पुरुष कदम पीछे हटाएगा? सुन्दरियों के सम्मुख योद्धाओं की वीरता अजेय हो जाती है। रमणी के वचन-बाण योद्धाओं के लिए आत्म समर्पण के गुप्त सन्देश हैं, उसकी एक चितवन कायरों में भी पुरुषत्व प्रवाहित कर देती है। चिन्ता की छवि और कीर्ति ने मनचले सूरमों को चारों ओर से खींच-खींचकर उसकी सेना को सजा दिया, जान पर खेलनेवाले भौंरे चारों ओर से आ-आकर इस फ़ूल पर मँडलाने लगे।

इन्हीं योद्धाओं में रत्नसिंह नाम का एक युवक राजपूत भी था।

यों तो चिन्ता के सैनिकों में सभी तलवार के धनी थे, बात पर जान देनेवाले, उसके इशारे पर आग में कूदनेवाले उसकी आज्ञा पाकर एक बार आकाश के तारे तोड़ लाने को भी चल पड़ते, किन्तु रत्नसिंह सबसे बढ़ा हुआ था। चिन्ता भी हृदय में उससे प्रेम करती थी। रत्नसिंह अन्य वीरों की भाँति अक्खड़, मुँहफट या घमंडी न था। और लोग अपनी अपनी कीर्ति को खूब बढ़ा बढ़ाकर बयान करते। आत्म प्रशंसा करते हुए उनकी जबान न रुकती थी। वे जो कुछ करते, चिन्ता को दिखाने के लिए। उनका ध्येय अपना कर्तव्य न था, चिन्ता थी। रत्नसिंह जो कुछ करता, शान्त-भाव से। अपनी प्रशंसा करना तो दूर रहा, वह चाहे कोई शेर ही क्यों न मार आवे, उसकी चरचा तक न करता। उसकी विनयशीलता और नम्रता संकोच की सीमा से भी बढ़ गई थी। औरों के प्रेम में विलास था, पर रत्नसिंह के प्रेम में त्याग और तप। और लोग मीठी नींद सोते थे, पर रत्नसिंह तारे गिन-गिनकर रात काटता था। और सब अपने दिल में समझते थे कि चिन्ता मेरी होगी केवल रत्न-सिंह निराश था, और इसी लिए उसे किसी से न द्वेष था, न राग।

औरों को चिन्ता के सामने चहकते देखकर उसे उनकी वाक्‌पटुता पर आश्चर्य होता, प्रतिक्षण उसका निराशांधकार और भी घना होता जाता था। कभी-कभी वह अपने बोदेपन पर झुँझला उठता—क्यों ईश्वर ने उसे उन गुणों से वंचित रक्खा, जो रमणियों के चित्त को मोहित करते हैं? उसे कौन पूछेगा? उसकी मनोव्यथा को कौन जानता है? पर वह मन में झुँझलाकर रह जाता था। दिखावे की उसमें सामर्थ्य ही न थी।

आधी से अधिक रात बीत चुकी थी। चिन्ता अपने खीमे में विश्राम कर रही थी। सैनिकगण भी कड़ी मंजिल मारने के बाद कुछ खा-पीकर गाफिल पड़े हुए थे। आगे एक घना जंगल था। जंगल के उस पार शत्रुओं का एक दल डेरा डाले पड़ा था। चिन्ता उसके आने की खबर पाकर भागाभाग चली आ रही थी। उसने प्रातःकाल शत्रुओं पर धावा करने का निश्चय कर लिया था। उसे विश्वास था कि शत्रुओं को मेरे आने की खबर न होगी। किन्तु यह उसका भ्रम था। उसी की सेना का एक आदमी शत्रुओं से मिला हुआ था। यहाँ की खबरें वहाँ नित्य पहुँचती रहती थीं। उन्होंने चिन्ता से निश्चिन्त होने के लिए एक षड्यन्त्र रच रखा था—उसकी गुप्त हत्या करने के लिए तीन साहसी सिपाहियों को नियुक्त कर दिया था। वे तीनों हिंस्र पशुओं की भाँति दबे पाँव जंगल को पार करके आए, और वृक्षों की आड़ में खड़े होकर सोचने लगे कि चिन्ता का खीमा कौन-सा है। सारी सेना बेखबर सो रही थी, इससे उन्हें अपने कार्य की सिद्धि में लेश-मात्र सन्देह न था। वे वृक्षों की आड़ से निकले, और जमीन पर मगर की तरह रेंगते हुए चिन्ता के खीमे की ओर चले।

के कारण निद्रा में मग्न हो गए थे। केवल एक प्राणी खीमे के पीछे मारे ठंड के सिकुड़ा हुआ बैठा था। यह रत्नसिंह था। आज उसने यह कोई नई बात न की थी। पड़ावों में उसकी रातें इसी भाँति चिन्ता के खीमे के पीछे बैठे बैठे कटती थीं। घातकों की आहट पाकर उसने तलवार निकाल ली और चौंककर उठ खड़ा हुआ। देखा, तीन आदमी झुके हुए चले आ रहे हैं। अब क्या करे? अगर शोर मचाता है, तो सेना में खलबली पड़ जाय, और अँधेरे में लोग एक दूसरे पर वार करके आपस ही में कट मरें। इधर अकेले तीन जवानों से भिड़ने में प्राणों का भय। अधिक सोचने का मौका न था। उसमें योद्धाओं की अविलम्ब निश्चय कर लेने की शक्ति थी। तुरत तलवार खींच ली, और उन तीनों पर टूट पड़ा। कई मिनट तक तलवारें छपाछप चलती रहीं। फिर सन्नाटा छा गया। उधर वे तीनों आहत होकर गिर पड़े, इधर यह भी जख्मों से चूर होकर अचेत हो गया।

प्रातःकाल चिन्ता उठी, तो चारों जवानों को भूमि पर पड़े पाया। उसका कलेजा धक्-से हो गया। समीप जाकर देखा, तीनों आक्रमणकारियों के प्राण निकल चुके थे, पर रत्नसिंह की साँस चल रही थी। सारी घटना समझ में आ गई। नारीत्व ने वीरत्व पर विजय पाई। जिन आँखों से पिता की मृत्यु पर आँसू का एक बूँद भी न गिरा था उन्हीं आँखों से आँसुओं की झड़ी लग गई। उसने रत्नसिंह का सिर अपनी जाँघ पर रख लिया, और हृदयांगण में रचे हुए स्वयंवर में उसके गले में जयमाला डाल दी।

(२)

महीने-भर न रत्नसिंह की आँखें खुलीं, और न चिन्ता की आँखें बंद हुईं। चिन्ता उसके पास से एक क्षण के लिए भी कहीं न जाती। न

अपने इलाके की परवा थी, न शत्रुओं के बढ़ते चले आने की फिक्र। रत्नसिंह पर वह अपनी सारी विभूतियों को बलिदान कर चुकी थी। पूरा महीना बीत जाने के बाद रत्नसिंह की आँख खुली। देखा चारपाई पर पड़ा हुआ है, और चिन्ता सामने पंखा लिए खड़ी है। क्षीण स्वर में बोला—"चिन्ता, पंखा मुझे दे दो। तुम्हें कष्ट हो रहा है।"

चिन्ता का हृदय इस समय स्वर्ग के अखंड, अपार सुख का अनुभव कर रहा था। एक महीना पहले जिस शीर्ण शरीर के सिरहाने बैठी हुई वह नैराश्य से रोया करती थी, उसे आज बोलते देखकर उसके आह्लाद का पारावार न था। उसने स्नेह-मधुर स्वर में कहा—"प्राणनाथ, यदि यह कष्ट है, तो सुख क्या है, मैं नहीं जानती।" "प्राणनाथ"—इस संबोधन में विलक्षण मंत्र की-सी शक्ति थी। रत्नसिंह की आँखें चमक उठीं। जीर्ण मुद्रा प्रदीप्त हो गई, नसों में एक नए जीवन का संचार हो गया, और वह जीवन कितना स्फूर्तिमय था, इसमें कितना उत्साह, कितना माधुर्य, कितना उल्लास और कितनी करुणा थी। रत्नसिंह के अंग अंग फड़कने लगे। उसे अपनी भुजाओं में अलौकिक पराक्रम का अनुभव होने लगा। ऐसा जान पड़ा, मानो वह सारे संसार को सर कर सकता है, उड़कर आकाश पर पहुँच सकता है, पर्वतों को चीर सकता है। एक क्षण के लिए उसे ऐसी तृप्ति हुई, मानो उसकी सारी अभिलाषाएँ पूरी हो गई हैं, मानो वह अब किसी से कुछ नहीं चाहता; शायद शिव को सामने खड़े देखकर भी वह मुँह फेर लेता, कोई वरदान न माँगता। उस समय किसी ऋद्धि की, किसी पदार्थ की इच्छा न थी। उसे गर्व हो रहा था, मानो उससे अधिक सुखी, उससे अधिक भाग्यशाली पुरुष संसार में और कोई न होगा।

चिन्ता अभी अपना वाक्य पूरा भी न कर पाई थी। इसी प्रसंग में

बोली—"हाँ, आपको मेरे कारण अलबत्ता दुस्सह यातना भोगनी पड़ी !"

रत्नसिंह ने उठने की चेष्टा करके कहा—"बिना तप के सिद्धि नहीं मिलती।"

चिन्ता ने रत्नसिंह को कोमल हाथों से लिटाते हुए कहा—"इस सिद्धि के लिए तुमने तपस्या नहीं की थी। झूठ क्यों बोलते हो ? तुम केवल एक अबला की रक्षा कर रहे थे। यदि मेरी जगह कोई दूसरी स्त्री होती, तो भी तुम इतने ही प्राण-पण से उसकी रक्षा करते। मुझे इसका विश्वास है। मैं तुमसे सत्य कहती हूँ, मैंने आजीवन ब्रह्मचारिणी रहने का प्रण कर लिया था, लेकिन तुम्हारे आत्मोत्सर्ग ने मेरे प्रण को तोड़ डाला। मेरा पालन योद्धाओं की गोद में हुआ है, मेरा हृदय उसी पुरुषसिंह के चरणों पर अर्पण हो सकता है, जो प्राणों की बाजी खेल सकता हो। रसिकों के हास विलास, गुण्डों के रूप रंग और फेकैतों के दाँव घात का मेरी दृष्टि में रत्तीभर भी मूल्य नहीं। उनकी नट विद्या को मैं केवल तमाशे की तरह देखती हूँ। तुम्हारे ही हृदय में मैंने सच्चा उत्सर्ग पाया, और तुम्हारी दासी हो गई—आज से नहीं, बहुत दिनों से।"

(५)

प्रणय की पहली रात थी। चारों ओर सन्नाटा था। केवल दोनों प्रेमियों के हृदयों में अभिलाषाएँ लहरा रही थीं। चारों ओर अनुरागमयी चाँदनी छिटकी हुई थी, और उसकी हास्यमयी छटा में वर और वधू प्रेमालाप कर रहे थे।

सहसा खबर आई कि शत्रुओं की एक सेना किले की ओर बढ़ी चली आती है। चिन्ता चौंक पड़ी, रत्नसिंह खड़ा हो गया, और खूँटी से लटकती हुई तलवार उतार ली।

चिन्ता ने उसकी ओर कातर-स्नेह की दृष्टि से देखकर कहा—"कुछ आदमियों को उधर भेज दो, तुम्हारे जाने की क्या जरूरत है ?"

रत्नसिंह ने बन्दूक कंधे पर रखते हुए कहा—"मुझे भय है कि अब की वे लोग बड़ी संख्या में आ रहे हैं।"

चिन्ता—"तो मैं भी चलूँगी।"

"नहीं, मुझे आशा है, वे लोग ठहर न सकेंगे। मैं एक ही धावे में उनके कदम उखाड़ दूँगा। यह ईश्वर की इच्छा है कि हमारी प्रणय-रात्रि विजय-रात्रि हो।"

"न-जाने क्यों मन कातर हो रहा है। जाने देने को जी नहीं चाहता।"

रत्नसिंह ने इस सरल, अनुरक्त आग्रह से विह्वल होकर चिन्ता को गले लगा लिया, और बोले—"मैं सवेरे तक लौट आऊँगा प्रिये।"

चिन्ता पति के गले में हाथ डालकर आँखों में आँसू भरे हुए बोली—"मुझे भय है, तुम बहुत दिनों में लौटोगे। मेरा मन तुम्हारे साथ रहेगा। जाओ, पर रोज खबर भेजते रहना। तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, अवसर का विचार करके धावा करना। तुम्हारी आदत है कि शत्रु देखते ही आकुल हो जाते हो, और जान पर खेलकर टूट पड़ते हो। तुमसे मेरा यही अनुरोध है कि अवसर देखकर काम करना। जाओ, जिस तरह पीठ दिखाते हो, इसी तरह मुँह दिखाओ।"

चिन्ता का हृदय कातर हो रहा था। वहाँ पहले केवल विजय-लालसा का आधिपत्य था अब भोग-लालसा की प्रधानता थी। वही वीर बाला जो सिंहिनी की तरह गरजकर शत्रुओं के कलेजे कँपा देती थी, आज इतनी दुर्बल हो रही थी कि जब रत्नसिंह घोड़े पर सवार हुआ, तो आप उसकी कुशल-कामना से मन ही-मन देवी की मनौतियाँ

कर रही थी। जब तक वह वृक्षों की ओट में छिप न गया, वह खड़ी उसे देखती रही फिर वह किले के सबसे ऊँचे बुर्ज पर चढ़ गई, और वहाँ उसी तरफ ताकती रही। वहाँ शून्य था, पहाड़ियों ने कभी का रत्न सिंह को अपनी ओट में छिपा लिया था, पर चिन्ता को ऐसा जान पड़ता था कि वह सामने चले जा रहे हैं। जब ऊषा की लोहित छवि वृक्षों की आड़ से झाँकने लगी, तो उसकी मोह विस्मृति टूट गई। मालूम हुआ, चारों ओर शून्य है। वह रोती हुई बुर्ज से उतरी, और शय्या पर मुँह ढाँपकर रोने लगी।

(६)

रत्नसिंह के साथ मुशकिल से सौ आदमी थे, किन्तु सभी मँजे हुए, अवसर और संख्या को तुच्छ समझनेवाले, अपनी जान के दुश्मन। वे वीरोल्लास से भरे हुए एक वीर-रस-पूर्ण पद गाते हुए घोड़ों को बढ़ाए चले जाते थे —

बाँकी तेरी पाग सिपाही, इसकी रखना लाज।
तेग-तबर कुछ काम न आवे, बख्तर ढाल व्यर्थ हो जावे।
रखियो मन में लाग, सिपाही बाँकी तेरी पाग।
इसकी रखना लाज।

पहाड़ियाँ इन वीर-स्वरों से गूँज रही थीं, घोड़ों की टाप ताल दे रही थीं। यहाँ तक कि रात बीत गई, सूर्य ने अपनी लाल आँखें खोल दीं, और इन वीरों पर अपनी स्वर्णच्छटा की वर्षा करने लगा।

वहीं रक्तमय प्रकाश में शत्रुओं की सेना एक पहाड़ी पर पड़ाव डाले हुए नजर आई।

रत्नसिंह सिर झुकाए, वियोग व्यथित हृदय को दबाए, मंद गति से पीछे-पीछे चला आता था। कदम आगे बढ़ता था, पर मन पीछे हटता

हुआ था। बुन्देलों में निराशा का अलौकिक बल था। खूब लड़े, पर क्या मजाल कि कदम पीछे हटे। उनमें अब ज़रा भी संगठन न था। जिससे जितना आगे बढ़ते बना, बढ़ा। अंत क्या होगा, इसकी किसी को चिन्ता न थी। कोई तो शत्रुओं की सफ़ें चीरता हुआ सेनापति के समीप पहुँच गया, कोई उसके हाथी पर चढ़ने की चेष्टा करते मारा गया। उनका अमानुषिक साहस देखकर शत्रुओं के मुँह से भी वाह-वाह निकलती थी। लेकिन ऐसे योद्धाओं ने नाम पाया है, विजय नहीं पाई। एक घंटे में रंगमंच का परदा गिर गया, तमाशा खतम हो गया। एक आँधी थी, जो आई और वृक्षों को उखाड़ती हुई चली गई। संगठित रहकर ये ही मुट्ठी-भर आदमी दुश्मनों के दाँत खट्टे कर देते, पर जिस पर संगठन का भार था, उसका कहीं पता न था। विजयी मरहठों ने एक एक लाश ध्यान से देखी। रत्नसिंह उनकी आँखों में खटकता था। उसी पर उनके दाँत लगे थे। रत्नसिंह के जीते-जी उन्हें नींद न आती थी। लोगों ने पहाड़ी की एक-एक चट्टान का मंथन कर डाला, पर रत्न न हाथ आया। विजय हुई, पर अधूरी।

(७)

चिन्ता के हृदय में आज न-जाने क्यों, भाँति-भाँति की शंकाएँ उठ रही थीं। वह कभी इतनी दुर्बल न थी। बुन्देलों की हार ही क्यों होगी, इसका कोई कारण तो वह न बता सकती थी, पर यह भावना उसके विकल हृदय से किसी तरह न निकलती थी। इस अभागिन के भाग्य में प्रेम का सुख भोगना लिखा होता, तो क्या बचपन ही में माँ मर जाती, पिता के साथ वन-वन घूमना पड़ता, खोहों और कन्दराओं में रहना पड़ता! और वह आश्रय भी तो बहुत दिन न रहा। पिता भी मुँह मोड़कर चल दिए। तब से उसे एक दिन भी तो आराम से बैठना नसीब

न हुआ। विधना क्या अब अपना क्रूर कौतुक छोड़ देगा ? आह ! उसके दुर्बल हृदय में इस समय एक विचित्र भावना उत्पन्न हुई—ईश्वर उसके प्रियतम को आज सकुशल लावे, तो वह उसे लेकर किसी दूर के गाँव में जा बसेगी, पति देव की सेवा और आराधना में जीवन सफल करेगी। इस संग्राम से सदा के लिए मुँह मोड़ लेगी। आज पहली बार नारीत्व का भाव उसके मन में जाग्रत् हुआ।

संध्या हो गई थी, सूर्य भगवान् किसी हारे हुए सिपाही की भाँति मस्तक झुकाए कोई आड़ खोज रहे थे। सहसा एक सिपाही नंगे सिर नंगे पाँव, निश्शस्त्र, उसके सामने आकर खड़ा हो गया। चिन्ता पर वज्र पात हो गया। एक क्षण तक मर्माहत-सी बैठी रही। फिर उठकर घबराई हुई सैनिक के पास आई, और आतुर स्वर में पूछा—"कौन कौन बचा ?"

सैनिक ने कहा—"कोई नहीं।"

"कोई नहीं !, कोई नहीं !!"

चिन्ता सिर पकड़कर भूमि पर बैठ गई। सैनिक ने फिर कहा—"मरहठे समीप आ पहुँचे।"

"समीप आ पहुँचे !!"

"बहुत समीप !"

"तो तुरत चिता तैयार करो। समय नहीं है।"

"अभी हम लोग तो सिर कटाने को हाजिर ही हैं।"

"तुम्हारी जैसी इच्छा। मेरे कर्तव्य का तो यही अन्त है।"

"किला बन्द करके हम महीनों लड़ सकते हैं।"

"तो जाकर लड़ो। मेरी लड़ाई अब किसी से नहीं।"

एक ओर अन्धकार प्रकाश को पैरों-तले कुचलता चला आता था दूसरी ओर विजयी मरहठे लहराते हुए खेतों को और किले में चिन

रत्नसिंह सिर पीटकर बोला—"हाय प्रिये ! तुम्हें क्या हो गया है मेरी ओर देखती क्यों नहीं, मैं तो जीवित हूँ ।"

चिता से आवाज़ आई—"तुम्हारा नाम रत्नसिंह है, पर तुम मेरे रत्नसिंह नहीं हो ।"

"तुम मेरी तरफ़ देखो तो, मैं ही तुम्हारा दास, तुम्हारा उपासक, तुम्हारा पति हूँ ।"

"मेरे पति ने वीर-गति पाई ।"

"हाय, कैसे समझाऊँ ! अरे लोगो, किसी भाँति अग्नि को शांत करो । मैं रत्नसिंह ही हूँ प्रिये ! क्या तुम मुझे पहचानती नहीं हो ?"

अग्नि शिखा चिन्ता के मुख तक पहुँच गई । अग्नि में कमल खिल गया । चिन्ता स्पष्ट स्वर में बोली—"खूब पहचानती हूँ । तुम मेरे रत्नसिंह नहीं । मेरा रत्नसिंह सच्चा शूर था । वह आत्म-रक्षा के लिए, इस तुच्छ देह को बचाने के लिए, अपने क्षत्रिय-धर्म का परित्याग न कर सकता था । मैं जिस पुरुष के चरणों की दासी बनी थी, वह देवलोक में विराजमान है । रत्नसिंह को बदनाम मत करो । वह वीर राजपूत था, रण क्षेत्र से भागनेवाला कायर नहीं ।"

अन्तिम शब्द निकले ही थे कि अग्नि की ज्वाला चिन्ता के सिर के ऊपर जा पहुँची । फिर एक क्षण में वह अनुपम रूप-राशि, वह आदर्श वीरता की उपासिका, वह सच्ची सती अग्नि-राशि में विलीन हो गई ।

रत्नसिंह चुपचाप, हतबुद्धि-सा खड़ा यह शोकमय दृश्य देखता रहा । फिर अचानक एक ठण्डी साँस खींचकर उसी चिता में कूद पड़ा ।

हिंसा परमो धर्मः

(१)



दुनिया में कुछ ऐसे लोग भी होते हैं, जो किसी के नौकर न होते हुए सबके नौकर होते हैं। जिन्हें कुछ अपना खास काम न होने पर भी सिर उठाने की फुरसत नहीं होती। जामिद इसी श्रेणी के मनुष्यों में था। बिलकुल बेफ़िक्र, न किसी से दोस्ती, न किसी से दुश्मनी। जो जरा हँसकर बोला, उसका बे-दाम का गुलाम हो गया। बेकाम का काम करने में उसे मजा आता था। गाँव में कोई बीमार पड़े, वह रोगी की सेवा-शुश्रूषा के लिए हाजिर है। कहिए, तो आधी रात को हकीम के घर चला जाय, किसी जड़ी बूटी की तलाश में मंजिलों की खाक छान आवे। मुमकिन न था कि वह किसी गरीब पर अत्याचार होते देखे और चुप रह जाय। फिर चाहे कोई उसे मार ही डाले, वह हिमायत करने से बाज न आता था। ऐसे सैकड़ों ही मौक़े उसके सामने आ चुके थे। कांस्टेबिलों से आए दिन उसकी छेड़-छाड़ होती ही रहती थी। इसी लिए लोग उसे बौड़म समझते थे। और बात भी यही थी। जो आदमी किसी का बोझ भारी देखकर, उससे छीनकर, अपने सिर पर ले ले, किसी का छप्पर उठाने या आग बुझाने के लिए कोसों दौड़ा चला जाय, उसे समझदार कौन कहेगा? सारांश यह कि उसकी जात से दूसरों को चाहे कितना ही फायदा पहुँचे, अपना कोई उपकार न होता था, यहाँ तक कि वह रोटियों के लिए भी दूसरों का मुहताज था। दीवाना तो वह था, और उसका गम दूसरे खाते थे।

(२)

आखिर जब लोगों ने बहुत धिक्कारा—क्यों अपना जीवन नष्ट कर रहे हो, तुम दूसरों के लिए मरते हो, कोई तुम्हारा भी पूछनेवाला है? अगर एक दिन बीमार पड जाओ, तो कोई चुल्लू-भर पानी न दे, जब तक दूसरो की सेवा करते हो, लोग खैरात समझकर खाने को दे देते हैं, जिस दिन आ पडेगी, कोई सीधे-मुँह बात भी न करेगा, तब जामिद की आँखें खुलीं। बरतन-भाँड़ा कुछ था ही नहीं। एक दिन उठा, और एक तरफ की राह ली। दो दिन के बाद एक शहर में जा पहुँचा। शहर बहुत बडा था। महल आसमान से बातें करनेवाले। सड़कें चौडी और साफ। बाज़ार गुलजार, मसजिदों और मन्दिरों की संख्या अगर मकानों से अधिक न थी, तो कम भी नहीं। देहात में न तो कोई मस-जिद थी, न कोई मन्दिर। मुसलमान लोग एक चबूतरे पर नमाज पढ लेते थे। हिन्दू एक वृक्ष के नीचे पानी चढा दिया करते थे। नगर में धर्म का यह माहात्म्य देखकर जामिद को बड़ा कुतूहल और आनन्द हुआ। उसकी दृष्टि में मजहब का जितना सम्मान था, उतना और किसी सांसा-रिक वस्तु का नहीं। वह सोचने लगा, ये लोग कितने ईमान के पक्के, कितने सत्यवादी हैं। इनमें कितनी दया, कितना विवेक, कितनी सहानु-भूति होगी। तभी तो खुदा ने इन्हें इतना माना है। वह हर आने-जाने वाले को श्रद्धा की दृष्टि से देखता और उसके सामने विनय से सिर झुकाता था। यहाँ के सभी प्राणी उसे देवता तुल्य मालूम होते थे।

घूमते घूमते साँझ हो गई। वह थककर एक मंदिर के चबूतरे पर जा बैठा। मंदिर बहुत बडा था, ऊपर सुनहला कलश चमक रहा था। जगमोहन पर संगमरमर के चौके जडे हुए थे, मगर आँगन में जगह जगह गोबर और कूडा पड़ा था। जामिद को गंदगी से चिढ़ थी। देवालय

की यह दशा देखकर उससे न रहा गया। इधर-उधर निगाह दौड़ाई कि कहीं झाड़ू मिल जाय, तो साफ कर दूँ। पर झाड़ू कहीं नजर न आई। विवश होकर उसने अपने दामन से चबूतरे को साफ़ करना शुरू कर दिया।

जरा देर में भक्तों का जमाव होने लगा। उन्होंने जामिद को चबूतरा साफ करते देखा, तो आपस में बातें करने लगे—

"है तो मुसलमान!"

"मेहतर होगा।"

"नहीं, मेहतर अपने दामन से सफाई नहीं करता। कोई पागल मालूम होता है।"

"उधर का भेदिया न हो।"

"नहीं, चेहरे से तो बड़ा गरीब मालूम होता है।"

"हसननिजामी का कोई मुरीद होगा।"

"अजी, गोबर के लालच से सफाई कर रहा है। कोई भटियारा होगा। (जामिद से) गोबर मत ले जाना बे, समझा? कहाँ रहता है?"

"परदेसी मुसाफिर हूँ, साहब। मुझे गोबर लेकर क्या करना है। ठाकुरजी का मंदिर देखा, तो आकर बैठ गया। कूड़ा पड़ा हुआ था, मैंने सोचा, धर्मात्मा लोग आते होंगे, सफाई करने लगा।"

"तुम तो मुसलमान हो न?"

"ठाकुरजी तो सबके ठाकुरजी हैं—क्या हिन्दू, क्या मुसलमान।"

"तुम ठाकुरजी को मानते हो?"

"ठाकुरजी को कौन न मानेगा, साहब? जिसने पैदा किया, उसे न मानूँगा तो किसे मानूँगा।"

लोगों में सलाह होने लगी—

"देहाती है।"

"फाँस लेना चाहिए, जाने न पावे।"

(३)

जामिद फाँस लिया गया। उसका आदर-सत्कार होने लगा। एक हवादार मकान रहने को मिला। दोनों वक्त उत्तम पदार्थ खाने को मिलने लगे। दो-चार आदमी हरदम उसे घेरे रहते। जामिद को भजन खूब याद थे। गला भी अच्छा था। वह रोज मंदिर में जाकर कीर्तन करता। भक्ति के साथ स्वरलालित्य भी हो, तो फिर क्या पूछना? लोगों पर उसके कीर्तन का बड़ा असर पड़ता। कितने ही लोग संगीत के लोभ से ही मंदिर में आने लगे। सबको विश्वास हो गया कि भगवान् ने यह शिकार चुनकर भेजा है।

एक दिन मंदिर में बहुत-से आदमी जमा हुए। आँगन में फर्श बिछाया गया। जामिद का सिर मुड़ा दिया गया। नए कपड़े पहनाए गए। हवन हुआ। जामिद के हाथों से मिठाई बँटवाई गई। वह अपने आश्रय-दाताओं की उदारता और धर्मनिष्ठा का और भी क़ायल हो गया। ये लोग कितने सज्जन हैं, मुझ जैसे फटे-हाल परदेशी की इतनी खातिर! इसी को सच्चा धर्म कहते हैं। जामिद को जीवन में कभी इतना सम्मान न मिला था। यहाँ वही सैलानी युवक, जिसे लोग गौडम कहते थे, भक्तों का सिरमौर बना हुआ था। सैकड़ों ही आदमी केवल उसके दर्शनों को आते थे। उसकी प्रकांड विद्वत्ता की कितनी ही कथाएँ प्रचलित हो गईं। पत्रों में यह समाचार निकला कि एक बड़े आलिम मौलवी साहब की शुद्धि हुई है। सीधा-सादा जामिद इस सम्मान का रहस्य कुछ न समझता था। ऐसे धर्म-परायण, सहृदय प्राणियों के लिए वह क्या कुछ न करता? वह नित्य पूजा करता, भजन गाता। उसके लिए

यह कोई नई बात न थी। अपने गाँव में भी वह बराबर सत्यनारायण की कथा में बैठा करता था। भजन-कीर्तन किया करता था। अंतर यही था कि देहात में उसकी क़द्र न थी। यहाँ सब उसके भक्त थे।

एक दिन जामिद कई भक्तों के साथ बैठा हुआ कोई पुराण पढ रहा था, तो क्या देखता है कि सामने सडक पर एक बलिष्ठ युवक माथे पर तिलक लगाए, जनेऊ पहने, एक बूढे दुर्बल मनुष्य को मार रहा है। बुड्ढा रोता है, गिडगिडाता है, और पैरों पड़-पड़ के कहता है कि महाराज, मेरा कुसूर माफ करो, किन्तु तिलकधारी युवक को उस पर जरा भी दया नहीं आती। जामिद का रक्त खौल उठा। ऐसे दृश्य देख कर वह शांत न बैठ सकता था। तुरन्त कूद कर बाहर निकला, और युवक के सामने आकर बोला—तुम बुड्ढे को क्यों मारते हो भाई? तुम्हें इस पर जरा भी दया नहीं आती?

युवक—मैं मारते मारते इसकी हड्डियाँ तोड़ दूँगा।

जामिद—आखिर इसने क्या कुसुर किया है? कुछ मालूम तो हो।

युवक—इसकी मुर्गी हमारे घर में घुस गई थी, और सारा घर गंदा कर आई?

जामिद—तो क्या इसने मुर्गी को सिखा दिया था कि तुम्हारा घर गंदा कर आवे?

बुड्ढा—खुदावंद, मैं तो इसे बराबर खाँचे में ढाँके रहता हूँ। आज गफ़लत हो गई। कहता हूँ, महाराज, कुसूर माफ करो, मगर नहीं मानते। हुजूर, मारते-मारते अधमरा कर दिया।

युवक—अभी नहीं मारा है, अब मारूँगा—खोदकर गाड़ दूँगा।

जामिद—खोदकर गाड़ दोगे भाई साहब तो तुम भी यों न खड़े रहोगे। समझ गए? अगर फिर हाथ उठाया, तो अच्छा न होगा।

जवान को अपनी ताक़त का नशा था। उसने फिर बुड्ढे को चांटा लगाया। पर चाँटा पड़ने के पहले ही जामिद ने उसकी गर्दन पकड़ ली। दोनों में मल्लयुद्ध होने लगा। जामिद करारा जवान था। युवक को पटकनी दी तो चारों खाने चित गिर गया। उसका गिरना था कि भक्तों का समुदाय, जो अब तक मंदिर में बैठा तमाशा देख रहा था, लपक पड़ा और जामिद पर चारों तरफ़ से चोटें पड़ने लगीं। जामिद की समझ में न आता था कि लोग मुझे क्यों मार रहे हैं। कोई कुछ नहीं पूछता। तिलकधारी जवान को कोई कुछ नहीं कहता। बस, जो आता है, मुझी पर हाथ साफ करता है। आखिर वह बेदम होकर गिर पड़ा। तब लोगों में बातें होने लगीं।

"दग़ा दे गया!"

"धत् तेरी जात की! इन म्लेच्छों से भलाई की आशा न रखनी चाहिए। कौवा कौवों ही के साथ मिलेगा। कमीना जब करेगा, कमीनापन। इसे कोई पूछता न था, मंदिर में झाड़ू लगा रहा था। देह पर कपड़े का तार भी न था, हमने इसका इतना सम्मान किया, पशु से आदमी बना दिया, फिर भी अपना न हुआ!"

"इनके धर्म का तो मूल ही यही है!"

जामिद रात-भर सड़क के किनारे पड़ा दर्द से कराहता रहा। उसे मार खाने का दुःख न था। ऐसी यातनाएँ वह कितनी बार भोग चुका था। उसे दुःख और आश्चर्य केवल इस बात का था कि इन लोगों ने क्यों एक दिन मेरा इतना सम्मान किया, और क्यों आज अकारण ही मेरी इतनी दुर्गति की? इनकी वह सज्जनता आज कहाँ गई? मैं तो वही हूँ। मैंने कोई कुसूर भी नहीं किया। मैंने तो वही किया, जो ऐसी दशा में सभी को करना चाहिए। फिर इन लोगों ने मुझ पर क्यों इतना अत्याचार किया? देवता क्यों राक्षस बन गए?

वह रात-भर इसी उलझन में पड़ा रहा। प्रातःकाल उठकर एक तरफ की राह ली।

(४)

जामिद अभी थोड़ी ही दूर गया था कि वही बुड्ढा उसे मिला। उसे देखते ही वह बोला—कसम खुदा की, तुमने कल मेरी जान बचा दी। सुना, जालिमों ने तुम्हें बुरी तरह पीटा। मैं तो मौका पाते ही निकल भागा। अब तक कहाँ थे? यहाँ लोग रात ही से तुमसे मिलने के लिए बेकरार हो रहे हैं। काजी साहब रात ही को तुम्हारी तलाश में निकले थे, मगर तुम न मिले। कल हम दोनों अकेले पड़ गए थे। दुश्मनों ने हमें पीट लिया। नमाज का वक्त था, यहाँ सब लोग मसजिद में थे। अगर जरा भी खबर हो जाती, तो एक हजार लठैत पहुँच जाते। तब आटे दाल का भाव मालूम होता। कसम खुदा की, आज से मैंने तीन कोरी मुर्गियाँ पाली हैं। देखूँ, पंडितजी महाराज अब क्या करते हैं? कसम खुदा की, काजी साहब ने कहा है, अगर वह लौंडा जरा भी आँखें दिखाये, तो तुम आकर मुझसे कहना। या तो बचा घर छोड़कर भागेंगे, या हड्डी पसली तोड़कर रख दी जायगी।

जामिद को लिए हुए वह बुड्ढा काजी जोरावरहुसैन के दरवाजे पर पहुँचा। काजी साहब वजू कर रहे थे। जामिद को देखते ही दौड़कर गले लगा लिया, और बोले—वल्लाह! तुम्हें आँखें ढूँढ़ रही थीं। तुमने अकेले इतने काफिरों के दाँत खट्टे कर दिए! क्यों न हो, मोमिन का खून है! काफिरों की हकीकत क्या! सुना, सब-के-सब तुम्हारी शुद्धि करने जा रहे थे; मगर तुमने उनके सारे मनसूबे पलट दिए। इस्लाम को ऐसे ही खादिमों की जरूरत है। तुम्हीं जैसे दीनदारों से इस्लाम का नाम रोशन है। गलती यही हुई कि तुमने एक महीने तक हजम नहीं

किया। शादी हो जाने देते, तब मजा आता। एक नाजनीन साथ लाते, और दौलत मुफ्त। वल्लाह! तुमने उजलत कर दी।

दिन भर भक्तों का ताँता लगा रहा। जामिद को एक नजर देखने का सबको शौक था। सभी उसकी हिम्मत, ज़ोर और मजहबी जोश की प्रशंसा करते थे।

(५)

पहर रात बीत चुकी थी। मुसाफ़िरों की आमदरफ्त कम हो चली थी। जामिद ने क़ाजी साहब से धर्म-ग्रंथ पढ़ना शुरू किया था। उन्होंने उसके लिए अपने बग़ल का कमरा खाली कर दिया था। वह क़ाजी साहब से सबक़ लेकर आया, और सोने जा रहा था कि सहसा उसे दरवाजे पर एक ताँगे के रुकने की आवाज सुनाई दी। क़ाजी साहब के मुरीद अक्सर आया करते थे। जामिद ने सोचा, कोई मुरीद आया होगा। नीचे आया, तो देखा, एक स्त्री ताँगे से उतर कर बरामदे में खड़ी है, और ताँगेवाला उसका असबाब उतार रहा है।

महिला ने मकान को इधर-उधर देख कर कहा—नहीं जी, मुझे अच्छी तरह खयाल है, उनका मकान यह नहीं है। शायद तुम भूल गए हो।

ताँगेवाला—हुजूर तो मानतीं ही नहीं। कह दिया कि बाबू साहब मकान तबदील कर दिया है। ऊपर चलिए।

स्त्री ने कुछ झिझकते हुए कहा—बुलाते क्यों नहीं? आवाज दो।

ताँगेवाला—ओ साहब, आवाज क्या दूँ। जब जानता हूँ साहब का यही मकान है, तो नाहक चिल्लाने से क्या फायदा? बेचारे आराम कर रहे होंगे। आराम में खलल पड़ेगा। आप निसाखातिर रहिए, चलिए, ऊपर चलिए।

औरत ऊपर चली। पीछे-पीछे ताँगेवाला असबाब लिए हुए चला। जामिद गुम सुम नीचे खड़ा रहा। यह रहस्य उसकी समझ में न आया।

ताँगेवाले की आवाज़ सुनते ही काज़ी साहब छत पर निकल आए, और एक औरत को आते देख कमरे की खिड़कियाँ चारों तरफ़ से बंद करके खूँटी पर लटकती हुई तलवार उतार ली, और दरवाज़े पर आकर खड़े हो गए।

औरत ने जीना तय करके ज्यों ही छत पर पैर रक्खा कि काजी साहब को देख कर झिझकी। वह तुरत पीछे की तरफ़ मुड़ना चाहती थी कि काज़ी साहब ने लपक कर उसका हाथ पकड़ लिया, और अपने कमरे में घसीट लाए। इसी बीच में जामिद और ताँगेवाला, ये दोनों भी ऊपर आ गए थे। जामिद यह दृश्य देख कर विस्मित हो गया था। रहस्य और भी रहस्यमय हो गया था। यह विद्या का सागर, यह न्याय का भंडार, यह नीति, धर्म और दर्शन का आगार, इस समय एक अपरिचित महिला के ऊपर यह घोर अत्याचार कर रहा है। ताँगेवाले के साथ वह भी काजी साहब के कमरे में चला गया। काजी साहब तो स्त्री के दोनों हाथ पकड़े हुए थे। ताँगेवाले ने दरवाजा बंद कर दिया।

महिला ने ताँगेवाले की ओर ख़ून-भरी आँखों से देख कर कहा—तू मुझे यहाँ क्यों लाया?

काजी साहब ने तलवार चमका कर कहा—पहले आराम से बैठ जाओ, सब कुछ मालूम हो जायगा।

औरत—तुम तो मुझे कोई मोलवी मालूम होते हो! क्या तुम्हें ख़ुदा ने यही सिखाया है कि पराई बहू बेटियों को जबरदस्ती घर में बंद करके उनकी आबरू बिगाड़ो?

काज़ी—हाँ, ख़ुदा का यही हुक्म है कि काफ़िरों को, जिस तरह

मुमकिन हो, इस्लाम के रास्ते पर लाया जाय। मगर ख़ुशी से न आवें, तो जब्र से।

औरत—इसी तरह अगर कोई तुम्हारी बहू-बेटी पकड़ कर बे-आबरू करे, तो?

क़ाज़ी—हो ही रहा है। जैसा तुम हमारे साथ करोगे, वैसा ही हम तुम्हारे साथ करेंगे। फिर हम तो बे-आबरू नहीं करते, सिर्फ अपने मज़हब में शामिल करते हैं। इस्लाम कबूल करने से आबरू बढ़ती है, घटती नहीं। हिन्दू-कौम ने तो हमें मिटा देने का बीड़ा उठाया है। वह इस मुल्क से हमारा निशान मिटा देना चाहती है। धोखे से, लालच से, ज़ब्र से मुसलमानों को बेदीन बनाया जा रहा है तो क्या मुसलमान बैठे मुँह ताकेंगे?

औरत—हिन्दू कभी ऐसा अत्याचार नहीं कर सकता। संभव है, तुम लोगों की शरारतों से तंग आकर नीचे दर्जे के लोग इस तरह बदला लेने लगे हों। मगर अब भी कोई सच्चा हिन्दू इसे पसन्द नहीं करता।

काज़ी साहब ने कुछ सोचकर कहा—बेशक, पहले इस तरह की शरारतें मुसलमान शोहदे किया करते थे। मगर शरीफ लोग इन हरकतों को बुरा समझते थे, और अपने इमकान-भर रोकने की कोशिश करते थे। तालीम और तहज़ीब की तरक्की के साथ कुछ दिनों में यह गुण्डापन ज़रूर गायब हो जाता। मगर अब तो सारी हिन्दू-कौम हमें निगलने के लिए तैयार बैठी हुई है। फिर हमारे लिए और रास्ता ही कौन सा है। हम कमज़ोर हैं, इसलिए हमें मजबूर होकर अपने को कायम रखने के लिए दगा से काम लेना पड़ता है। मगर तुम इतना घबराती क्यों हो? तुम्हें यहाँ किसी बात की तकलीफ न होगी। इस्लाम औरतों के हक़ का जितना लिहाज करता है, उतना और कोई मज़हब नहीं करता।

मुझे आपके रूप में इस समय अपने इष्टदेव के दर्शन हो रहे हैं। मेरी जबान में इतनी ताकत नहीं कि आपका शुक्रिया अदा कर सकूँ। आइए, बैठ जाइए।

जामिद—जी नहीं, अब मुझे इजाजत दीजिए।

पंडित—मैं आपको इस नेकी का क्या बदला दे सकता हूँ?

जामिद—इसका बदला यही है कि इस शरारत का बदला किसी गरीब मुसलमान से न लीजिएगा मेरी आपसे यही दरख्वास्त है।

यह कह कर जामिद चल खड़ा हुआ, और उस अँधेरी रात के सन्नाटे में शहर के बाहर निकल गया। उस शहर की विषाक्त वायु में साँस लेते हुए उसका दम घुटता था। वह जल्द से जल्द शहर से भाग कर अपने गाँव में पहुँचना चाहता, जहाँ मजहब का नाम सहानुभूति, प्रेम और सौहार्द था। धर्म और धार्मिक लोगों से उसे घृणा हो गई थी।

बहिष्कार

(१)



ण्डित ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी की ओर सतृष्ण नेत्रों से देखकर कहा—मुझे ऐसे निर्दयी प्राणियों से ज़रा भी सहानुभूति नहीं है। इस बर्बरता की भी कोई हद है कि, जिसके साथ तीन वर्ष तक जीवन के सुख भोगे, उसे एक ज़रासी बात पर घर से निकाल दिया।

गोविन्दी ने आँखें नीची करके पूछा—आखिर बात क्या हुई थी?

ज्ञान०—कुछ भी नहीं। ऐसी बातों में कोई बात होती है? शिकायत है कि कालिन्दी ज़बान की तेज है। तीन साल तक जबान की तेज न थी, आज जबान की तेज हो गई। कुछ नहीं, कोई दूसरी चिड़िया नज़र आई होगी। उसके लिए पिंजरे को खाली करना आवश्यक था। बस, यह शिकायत निकल आई। मेरा बस चले तो ऐसे दुष्टों को गोली मार दूँ। मुझे कई बार कालिन्दी से बातचीत करने का अवसर मिला है। मैंने ऐसी हँसमुख दूसरी स्त्री ही नहीं देखी।

गोविन्दी—तुमने सोमदत्त को समझाया नहीं?

ज्ञान०—ऐसे लोग समझाने से नहीं मानते। वह लात का आदमी है, बातों की उसे क्या परवा? मेरा तो यह विचार है कि, जिससे एक बार सम्बन्ध हो गया, फिर चाहे वह अच्छी हो या बुरी, उसके साथ जीवन भर निर्वाह करना चाहिए। मैं तो कहता हूँ, अगर स्त्री के कुल में कोई दोष भी निकल आवे तो भी क्षमा से काम लेना चाहिए।

गोविन्दी ने कातर नेत्रों से देखकर कहा—ऐसे आदमी तो बहुत कम होते हैं।

ज्ञान०—समझ ही में नहीं आता कि, जिसके साथ इतने दिन हँसे-बोले, जिसके प्रेम की स्मृतियाँ हृदय के एक एक अणु में समाई हुई हैं, उसे दर दर ठोकरें खाने को कैसे छोड़ दिया। कम से कम इतना तो करना चाहिये था कि, उसे किसी सुरक्षित स्थान पर पहुँचा देते और उसके निर्वाह का कोई प्रबन्ध कर देते। निर्दयी ने इस तरह घर से निकाला जैसे कोई कुत्ते को निकाले। बेचारी गाँव के बाहर बैठी रो रही है। कौन कह सकता है कहाँ जायगी। शायद मायके में भी कोई नहीं रहा। सोमदत्त के डर के मारे गाँव का कोई आदमी उसके पास भी नहीं जाता। ऐसे बगड़ का क्या ठिकाना जो अपनी स्त्री का न हुआ, वह दूसरे का क्या होगा। उसकी दशा देखकर मेरी आँखों में तो आँसू भर आए। जी में तो आया कहूँ—बहन, तुम मेरे घर चलो। मगर तब तो सोमदत्त मेरे प्राणों का गाहक हो जाता।

गोविन्दी—तुम जरा जाकर एक बार फिर समझाओ। अगर वह किसी तरह न मानें तो कालिन्दी को लेते आना।

ज्ञान०—जाऊँ ?

गोविन्दी हाँ, अवश्य जाओ। अगर सोमदत्त कुछ खरी-खोटी भी कहे तो सुन लेना।

ज्ञानचन्द ने गोविन्दी को गले लगाकर कहा तुम्हारे हृदय में बड़ी दया है गोविन्दी। लो, जाता हूँ। अगर सोमदत्त न माने तो कालिन्दी को लेता आऊँगा। अभी बहुत दूर न गई होगी।

(२)

तीन वर्ष बीत गए। कालिन्दी एक बच्चे की माँ हो गई है। कालिन्दी अभी तक इन्हीं के यहाँ रहती है। उसके पति ने दूसरा विवाह कर लिया है। गोविन्दी और कालिन्दी में बहनों का सा प्रेम है। गोविन्दी दहेज द्वारा

दिलजोई करती रहती है। वह इसकी कल्पना भी नहीं करती कि, यह कोई ग़ैर है और मेरी रोटियों पर पड़ी हुई है। लेकिन सोमदत्त को कालिन्दी का यहाँ रहना एक आँख नहीं भाता। वह कोई कानूनी काररवाई करने की तो हिम्मत नहीं रखता। और इस परिस्थिति में कर ही क्या सकता है—लेकिन ज्ञानचन्द्र का सिर नीचा करने के लिए अवसर खोजता रहता है।

सन्ध्या का समय था। ग्रीष्म की उष्ण वायु अभी तक बिलकुल शान्त नहीं हुई थी। गोविन्दी गङ्गा-जल भरने गई थी और जल तट की शीतल निर्जनता का आनन्द उठा रही थी। सहसा उसे सोमदत्त आता हुआ दिखाई दिया। गोविन्दी ने आँचल से मुँह छिपा लिया और कलसा लेकर चलने ही को थी कि, सोमदत्त ने सामने आकर कहा—जरा ठहरो गोविन्दी, तुमसे एक बात कहना है। तुमसे यह पूछना चाहता हूँ कि, तुमसे कहूँ या ज्ञानू से।

गोविन्दी ने धीरे से कहा—उन्हीं से कह दीजिये।

सोम०—जी तो मेरा भी यही चाहता है, लेकिन तुम्हारी दीनता पर दया आती है। जिस दिन मैं ज्ञानचन्द्र से वह बात कह दूँगा, तुम्हें इस घर से निकलना पड़ेगा। मैंने सारी बातों का पता लगा लिया है। तुम्हारा बाप कौन था, तुम्हारी माँ की क्या दशा हुई, यह सारी कथा जानता हूँ। क्या तुम समझती हो कि, ज्ञानचन्द्र यह कथा सुनकर तुम्हें अपने घर में रक्खेगा? उसके विचार कितने ही स्वाधीन हों, पर जीती मक्खी नहीं निगल सकता।

गोविन्दी ने थरथर काँपते हुए कहा—जब आप सारी बातें जानते हैं तो मैं क्या कहूँ? आप जैसा उचित समझें करें। लेकिन मैंने तो आपके साथ कभी कोई बुराई नहीं की।

सोम०—तुम लोगों ने गाँव में मुझे कहीं मुँह दिखाने के योग्य नहीं रक्खा। तिस पर कहती हो मैंने तुम्हारे साथ कोई बुराई नहीं की! तीन साल से कालिन्दी को आश्रय देकर तुमने मेरी आत्मा को जो कष्ट पहुँचाया है वह मैं ही जानता हूँ। तीन साल से मैं इसी फ़िक्र में था कि, कैसे इस अपमान का दण्ड लूँ। अब वह अवसर पाकर उसे किसी तरह नहीं छोड़ सकता।

गोविन्दी—अगर आपकी यही इच्छा है कि, मैं यहाँ न रहूँ तो मैं चली जाऊँगी, आज ही चली जाऊँगी, लेकिन उनसे आप कुछ न कहिए। आपके पैरों पड़ती हूँ।

सोम०—कहाँ चली जाओगी?

गोविन्दी—और कहीं ठिकाना नहीं है तो गङ्गाजी तो हैं।

सोम०—नहीं गोविन्दी, मैं इतना निर्दयी नहीं हूँ। मैं केवल इतना ही चाहता हूँ कि, तुम कालिन्दी को अपने घर से निकाल दो। और मैं कुछ नहीं चाहता। तीन दिन का समय देता हूँ, खूब सोच विचार लो। अगर कालिन्दी तीसरे दिन तुम्हारे घर से न निकली तो तुम जानोगी।

सोमदत्त वहाँ से चला गया। गोविन्दी कलसा लिए मूर्ति की भाँति खड़ी रह गई। उसके सम्मुख कठिन समस्या आ खड़ी हुई थी, वह थी कालिन्दी! घर में एक ही रह सकती थी। दोनों के लिए उस घर में स्थान न था। क्या कालिन्दी के लिए वह अपना घर, अपना स्वर्ग त्याग देगी? कालिन्दी अकेली है, पति ने उसे पहले ही छोड़ दिया है, वह जहाँ चाहे जा सकती है, पर वह अपने प्राणाधार और प्यारे बच्चे को छोड़ कर कहाँ जायगी?

लेकिन कालिन्दी से वह क्या कहेगी? जिसके साथ इतने दिनों तक बहनों की तरह रही उसे क्या वह अपने घर से निकाल देगी? उसका

बच्चा कालिन्दी से कितना हिला हुआ था, कालिन्दी उसे कितना चाहती थी। क्या उस परित्यक्ता दीना को वह अपने घर से निकाल देगी? इसके सिवा और उपाय ही क्या था? उसका जीवन अब एक स्वार्थी, दम्भी व्यक्ति की दया पर अवलम्बित था। क्या अपने पति के प्रेम पर वह भरोसा कर सकती थी? ज्ञानचन्द्र सहृदय थे, उदार थे, विचारशील थे, दृढ़ थे, पर क्या उनका प्रेम, अपमान, व्यंग्य और बहिष्कार जैसे आघातों को सहन कर सकता था?

(२)

उसी दिन से गोविन्दी और कालिन्दी में कुछ पार्थक्य सा दिखाई देने लगा। दोनों अब बहुत कम साथ बैठतीं। कालिन्दी पुकारती—बहन, आकर खाना खा लो। गोविन्दी कहती—तुम खा लो, मैं फिर खा लूँगी। पहले कालिन्दी बालक को सारे दिन खिलाया करती थी, माँ के पास केवल दूध पीने जाता था। मगर अब गोविन्दी हरदम उसे अपने ही पास रखती है। दोनों के बीच में कोई दीवार खड़ी हो गई है। कालिन्दी बार बार सोचती है, आजकल मुझसे यह क्यों रूठी हुई है, पर उसे कोई कारण नहीं दिखाई देता। उसे भय हो रहा है कि, कदाचित् यह अब मुझे यहाँ नहीं रखना चाहती। इसी चिन्ता में वह गोते खाया करती है किन्तु, गोविन्दी भी उससे कम चिन्तित नहीं है। कालिन्दी से वह स्नेह तोड़ना चाहती है, पर उसकी म्लान मूर्ति देख कर उसके हृदय के टुकड़े हो जाते हैं। उससे कुछ कह नहीं सकती। अवहेलना के शब्द मुँह से नहीं निकलते। कदाचित् उसे घर से जाते देख कर वह रो पड़ेगी और उसे जबरदस्ती रोक लेगी। इसी हैस बैस में तीन दिन गुजर गए। कालिन्दी घर से न निकली। तीसरे दिन सन्ध्या समय सोमदत्त नदी के तट पर बड़ी देर तक खड़ा रहा। अन्त

का जब चारों ओर अँधेरा छा गया, तो वह धीरे धीरे घर की ओर चला गया। फिर भी पीछे फिर फिर कर जल-तट की ओर देखता जाता था।

रात के दस बज गए हैं। अभी ज्ञानचन्द्र घर नहीं आए। गोविन्दी घबरा रही है। उन्हें इतनी देर तो कभी नहीं होती थी। आज इतनी देर कहाँ लगा रहे हैं? शङ्का से उसका हृदय काँप रहा है।

सहसा मरदाने कमरे का द्वार खुलने की आवाज़ आई। गोविन्दी दौड़ी हुई बैठक में आई। लेकिन पति का मुख देखते ही उसकी सारी देह शिथिल पड़ गई। उस मुख पर हास्य था। पर, उस हास्य में भाग्य-तिरस्कार झलक रहा था। विधि-वाम ने ऐसे सीधे-सादे मनुष्य को भी अपने क्रीड़ा कौशल के लिये चुन लिया, क्या यह रहस्य रोने के योग्य था? रहस्य रोने की वस्तु नहीं, हँसने ही की वस्तु है।

ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी की ओर नहीं देखा। कपड़े उतार कर सावधानी से अलगनी पर रखे, जूता उतारा और फर्श पर बैठकर एक पुस्तक के पन्ने उलटने लगे।

गोविन्दी ने डरते डरते कहा—आज इतनी देर कहाँ की। भोजन ठण्डा हो रहा है।

ज्ञानचन्द्र ने फर्श की ओर ताकते हुए कहा—तुम लोग भोजन कर लो, मैं एक मित्र के घर खा आया हूँ।

गोविन्दी इसका आशय समझ गई। एक क्षण के बाद फिर बोली—चलो, थोड़ा ही सा खा लो।

ज्ञान०—अब बिलकुल भूख नहीं है।

गोविन्दी—तो मैं भी जाकर सो रहती हूँ।

ज्ञानचन्द्र ने अब गोविन्दी की ओर देख कर कहा—क्यों? तुम क्यों न खाओगी?

गोविन्दी—मैं तो तुम्हारी ही थाली का जूठन खाया करती हूँ। इससे अधिक वह और कुछ न कह सकी। गला भर आया।

ज्ञानचन्द्र ने उसके समीप आकर कहा—मैं सच कहता हूँ गोविन्दी, एक मित्र के घर भोजन कर आया हूँ। तुम जाकर खा लो।

(४)

गोविन्दी पलँग पर पड़ी चिन्ता, नैराश्य और विषाद के अपार सागर में गोते खा रही थी। यदि कालिन्दी का उसने बहिष्कार कर दिया होता तो आज उसे इस विपत्ति का सामना न करना पड़ता, किन्तु यह अमानुषीय व्यवहार उसके लिए असाध्य था और इस दशा में भी उसे इसका दुःख न था। ज्ञानचन्द्र की ओर से यों तिरस्कृत होने का भी उसे दुःख न था। जो ज्ञानचन्द्र नित्य धर्म और सज्जनता की डींगें मारा करता था वही आज उसका इतनी निर्दयता से बहिष्कार करता हुआ जान पड़ता था, इस पर उसे लेशमात्र भी दुःख, क्रोध या द्वेष न था। उसके मन को केवल एक ही भावना आन्दोलित कर रही थी। वह अब इस घर में कैसे रह सकती है। अब तक वह इस घर की स्वामिनी थी, इसी लिए न कि, वह अपने पति के प्रेम की स्वामिनी थी, पर अब वह उस प्रेम से वञ्चित हो गई थी। अब इस घर पर उसका क्या अधिकार था। वह अब अपने पति को मुँह ही कैसे दिखा सकती थी। वह जानती थी ज्ञानचन्द्र अपने मुँह से उसके विरुद्ध एक शब्द भी न निकालेंगे पर, उसके विषय में ऐसी बातें जान कर क्या वह उससे प्रेम कर सकते थे? कदापि नहीं, इस वक्त न जाने क्या समझ कर चुप रहे। सबेरे तूफान उठेगा। कितने ही विचारशील हों, पर अपने समाज से निकाला जाना कौन पसन्द करेगा। स्त्रियों की संसार में कमी नहीं। मेरी जगह हजारों मिल जायँगी। मेरी किसी को क्या परवा। अब यहाँ रहना बेहयाई है।

आखिर कोई लाठी मार कर थोड़े ही निकाल देगा। हयादार के लिए आँख का इशारा बहुत है। मुँह से न कहें, मन की बात और भाव छिपे नहीं रहते। लेकिन मीठी निद्रा की गोद में सोए हुए शिशु को देख कर ममता ने उसके अशक्त हृदय को और भी कातर कर दिया। इस अपने प्राणों के आधार को वह कैसे छोड़ेगी?

शिशु को उसने गोद में उठा लिया और खड़ी रोती रही। तीन साल कितने आनन्द से गुजरे। उसने समझा था इसी भाँति सारा जीवन कट जायगा। लेकिन उसके दुर्भाग्य में इससे अधिक सुख भोगना लिखा ही न था। करुण वेदना में डूबे हुए ये शब्द उसके मुख से निकल आए—'भगवान! अगर तुम्हें इस भाँति मेरी दुर्गति करनी थी तो तीन साल पहले क्यों न की। उस वक्त यदि तुमने मेरे जीवन का अन्त कर दिया होता तो मैं तुम्हें धन्यवाद देती। तीन साल तक सौभाग्य के सुरम्य उद्यान में सौरभ, समीर और माधुर्य का आनन्द उठाने के बाद इस उद्यान ही को उजाड़ दिया।' हा! जिन पौधों को उसने अपने प्रेम जल से सींचा था, वे अब निर्मम दुर्भाग्य के पैरों तले कितनी निष्ठुरता से कुचले जा रहे थे। ज्ञानचन्द्र के शील और स्नेह का स्मरण आया तो वह रो पड़ी। मृदु स्मृतियाँ आ आकर हृदय को मसोसने लगीं।

सहसा ज्ञानचन्द्र के आने से वह सँभल बैठी। कठोर से कठोर बातें सुनने के लिए उसने अपने हृदय को कड़ा कर लिया। किन्तु, ज्ञानचन्द्र के मुख पर रोष का चिह्न भी न था। उन्होंने आश्चर्य से पूछा—क्या तुम अभी तक सोई नहीं? जानती हो कै बजे हैं बारह से ऊपर हैं।

गोविन्दी ने सहमते हुए कहा—तुम भी तो अभी नहीं सोए।

ज्ञान—मैं न सोऊँ तो तुम भी न सोओ? मैं न खाऊँ तो तुम भी न खाओ, मैं बीमार पड़ूँ तो तुम भी बीमार पड़ो? यह क्यों? मैं तो

एक जन्म-पत्री बना रहा था। कल देनी होगी। तुम क्या करती रहीं, बोलो ?

इन शब्दों में कितना सरल स्नेह था ! क्या तिरस्कार के भाव इतने ललित शब्दों में प्रकट हो सकते हैं। प्रवञ्चकता क्या इतनी निर्मल हो सकती है ? शायद सोमदत्त ने अभी वज्र का प्रहार नहीं किया। अवकाश न मिला होगा। लेकिन ऐसा है तो आज घर इतनी देर में क्यों आए ? भोजन क्यों न किया, मुझसे बोले तक नहीं, आँखें लाल हो रही थीं। मेरी ओर आँख उठा कर देखा तक नहीं। क्या यह सम्भव है कि, इनका क्रोध शान्त हो गया हो ? यह सम्भावना की चरमसीमा से भी बाहर है। तो क्या सोमदत्त को मुझ पर दया आ गई, पत्थर पर दूब जमी ! गोविन्दी कुछ निश्चय न कर सकी, और जिस भाँति गृह-सुख विहीन पथिक वृक्ष की छाँह में भी आनन्द से पाँव फैलाकर सोता है, उसकी अव्यवस्था ही उसे निश्चिन्त बना देती है, उसी भाँति गोविन्दी मानसिक व्यग्रता में भी स्वस्थ हो गई। मुसकुरा कर स्नेह-मृदुल स्वर में बोली— तुम्हारी ही राह तो देख रही थी।

यह कहते कहते गोविन्दी का गला भर आया। व्याध के जाल में फड़फड़ाता हुई चिड़िया क्या मीठे राग गा सकती है ? ज्ञानचन्द्र ने चारपाई पर बैठकर कहा—झूठी बात, रोज तो तुम अब तक सो जाया करती थीं।

(५)

एक महीना बीत गया, पर ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी से कुछ न पूछा, और न उनके बर्ताव ही से उनके मनोगत भावों का कुछ परिचय मिला। अगर उनके व्यवहारों में कोई नवीनता थी तो यह कि, वह पहले से भी ज्यादा स्नेहशील, निर्द्वन्द्व और प्रफुल्ल वदन हो गये थे। गोविन्दी का इतना आदर और मान उन्होंने कभी न किया था। उनके प्रयत्नशील

रहने पर भी गोविन्दी उनके मनोभावों को ताड़ रही थी और उसका चित्त प्रतिक्षण शङ्का से चञ्चल और क्षुब्ध रहता था। अब उसे इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं था कि, सोमदत्त ने आग लगा दी है। गीली लकड़ी में पड़कर वह चिनगारी बुझ जायगी या जङ्गल की सूखी पत्तियाँ हाहाकार करके जल उठेंगी, यह कौन जान सकता है। लेकिन इस सप्ताह के गुजरते ही अग्नि का प्रकोप होने लगा। ज्ञानचन्द्र एक महाजन के मुनीम थे। उस महाजन ने कह दिया—मेरे यहाँ अब आपका काम नहीं। जीविका का दूसरा साधन यजमानी थी। यजमान भी एक-एक करके उन्हें जवाब देने लगे। यहाँ तक कि, उनके द्वार पर लोगों का आना-जाना बन्द हो गया। आग सूखी पत्तियों में लगकर अब हरे वृक्ष के चारों ओर मँडराने लगी। पर, ज्ञानचन्द्र के मुख में गोविन्दी के प्रति एक भी कटु, अमृदु शब्द न था। वह इस सामाजिक दण्ड की शायद कुछ परवा न करते, यदि दुर्भाग्यवश इसने उनकी जीविका के द्वार न बन्द कर दिए होते। गोविन्दी सब कुछ समझती थी, पर सङ्कोच के मारे कुछ कह न सकती थी। उसी के कारण उसके प्राणप्रिय पति की यह दशा हो रही है, यह उसके लिये डूब मरने की बात थी। पर, कैसे प्राणों का उत्सर्ग करे। कैसे जीवन-मोह से मुक्त हो। इस विपत्ति में स्वामी के प्रति उसके रोम-रोम से शुभ कामनाओं की सरिता सी बहती थी, पर मुँह से एक शब्द भी न निकलता था। भाग्य की सबसे निष्ठुर लीला उस दिन हुई, जब कालिन्दी भी बिना कुछ कहे सुने सोमदत्त के घर जा पहुँची। जिसके लिए यह सारी यातनाएँ झेलनी पड़ीं उसी ने अन्त में बेवफाई की। ज्ञानचन्द्र ने सुना तो केवल मुस्कुरा दिए, पर गोविन्दी इस कुटिल आघात को इतनी शान्ति से सहन न कर सकी। कालिन्दी के प्रति उसके मुख से अप्रिय शब्द निकल ही आए। ज्ञानचन्द्र ने कहा—उसे व्यर्थ ही

कोसती हो। प्रिये, उसका कोई दोष नहीं। भगवान हमारी परीक्षा ले रहे हैं। इस वक्त धैर्य के सिवा हमें किसी से कोई आशा न रखनी चाहिए।

जिन भावों को गोविन्दी कई दिनों से अन्तस्तल में दबाती चली आती थी, वे धैर्य का बाँध टूटते ही बड़े वेग से बाहर निकल पड़े। पति के सम्मुख अपराधियों की भाँति हाथ बाँधकर उसने कहा—स्वामी, मेरे ही कारण आपको यह सारे पापड़ बेलने पड़ रहे हैं। मैं ही आपके कुल की कलङ्किनी हूँ। क्यों न मुझे किसी ऐसी जगह भेज दीजिए जहाँ कोई मेरी सूरत न देखे। मैं आपसे सत्य कहती हूँ ।

ज्ञानचन्द्र ने गोविन्दी को और कुछ न कहने दिया। उसे हृदय से लगा कर बोले—प्रिये ऐसी बातों से मुझे दुखी न करो। तुम आज भी उतनी ही पवित्र हो जितनी उस समय थीं। जब देवताओं के समक्ष मैंने आजीवन पत्नि व्रत लिया था तब मुझसे तुम्हारा परिचय न था। अब तो मेरी देह और मेरी आत्मा का एक-एक परमाणु तुम्हारे अक्षय प्रेम से आलोकित हो रहा है। उपहास और निन्दा की तो बात ही क्या है, दुर्दैव का कठोरतम आघात भी मेरे व्रत को भङ्ग नहीं कर सकता। अगर डूबेंगे तो साथ-साथ डूबेंगे, तरेंगे तो साथ साथ तरेंगे। मेरे जीवन का मुख्य कर्तव्य तुम्हारे प्रति है। संसार इसके पीछे—बहुत पीछे है।

गोविन्दी को जान पड़ा, उसके सम्मुख कोई देवमूर्ति खड़ी है। ...ना में इतनी श्रद्धा, इतना भक्ति उसे आज तक कभी न हुई थी। ...स उसका मस्तक ऊँचा हो गया और मुख पर स्वर्गीय आभा झलक पड़ी। उसने फिर कुछ कहने का साहस न किया।

(६)

सम्पन्नता अपमान और बहिष्कार को तुच्छ समझती है। उसके अभाव में ये बाधाएँ प्राणान्तक हो जाती हैं। ज्ञानचन्द्र दि... के दि... [illegible]

में पड़े रहते। घर से बाहर निकलने का उन्हें साहस न होता था। जब तक गोविन्दी के पास गहने थे तब तक तो भोजन की चिन्ता न थी। किन्तु, जब यह आधार भी न रह गया तो हालत और भी खराब हो गई। कभी-कभी निराहार रह जाना पड़ता। अपनी व्यथा किससे कहें, कौन मित्र था? कौन अपना था?

गोविन्दी पहले भी हृष्ट-पुष्ट न थी, पर अब तो अनाहार और अन्तर्वेदना के कारण उसकी देह और भी जीर्ण हो गई थी। पहले शिशु के लिए दूध मोल लिया करती थी। अब इसकी सामर्थ्य न थी। बालक दिन दिन दुर्बल होता जाता था। मालूम होता था उसे सूखे का रोग हो गया है। दिन के दिन बच्चा खुर्री खाट पर पड़ा माता को नैराश्य दृष्टि से देखा करता। कदाचित् उसकी बाल बुद्धि भी अवस्था को समझती थी। कभी किसी वस्तु के लिए हठ न करता। उसकी बालोचित सरलता, चञ्चलता और क्रीड़ाशीलता ने अब एक दीर्घ, आशाविहीन प्रतीक्षा का रूप धारण कर लिया था। माता-पिता उसकी दशा देखकर मन ही मन कुढ़ कुढ़ कर रह जाते थे।

सन्ध्या का समय था। गोविन्दी अन्धेरे घर में बालक के सिरहाने चिन्ता में मग्न बैठी थी। आकाश पर बादल छाए हुए थे और हवा के झोंके उसके अर्द्धनग्न शरीर में शर के समान लगते थे। आज दिन भर बच्चे ने कुछ न खाया था। घर में कुछ था ही नहीं। क्षुधाग्नि से बालक छटपटा रहा था, पर या तो वह रोना न चाहता था, या उसमें रोने की शक्ति ही न थी।

इतने में ज्ञानचन्द्र तेली के यहाँ से तेल लेकर आ पहुँचे। दीपक जला। दीपक के क्षीण प्रकाश में माता ने बालक का मुख देखा और सहम उठी। बालक का मुख पीला पड़ गया था और पुतलियाँ

गई थीं। उसने घबरा कर बालक को गोद में उठाया। देह ठण्डी थी। चिल्लाकर बोली—हा भगवन्! मेरे बच्चे को क्या हो गया! ज्ञानचन्द्र ने बालक के मुख की ओर देखकर एक ठण्डी साँस ली और बोले—ईश्वर, क्या सारी दया-दृष्टि हमारे ही ऊपर करोगे?

गोविन्दी—हाय, मेरा लाल मारे भूख के शिथिल हो गया है। कोई ऐसा नहीं जो इसे दो घूँट दूध पिला दे।

यह कहकर उसने बालक को पति की गोद में दे दिया और एक लुटिया लेकर कालिन्दी के घर दूध माँगने चली। जिस कालिन्दी ने आज ६ महीने से इस घर की ओर झाँका तक न था उसी के द्वार पर दूध की भिक्षा माँगने जाते हुए उसे कितनी ग्लानि, कितना सङ्कोच हो रहा था, वह भगवान् के सिवा और कौन जान सकता है। यह वही बालक है जिस पर एक दिन कालिन्दी प्राण देती थी, पर उसकी ओर से अब उसने अपना हृदय इतना कठोर कर लिया था कि, घर में कई गाएँ लगने पर भी कभी एक चिल्लू दूध न भेजा था। उसी की दया भिक्षा माँगने आज, अँधेरी रात में, भीगती हुई, गोविन्दी दौड़ी जा रही है। माता! तेरे वात्सल्य को धन्य है।

कालिन्दी दीपक लिए दालान में खड़ी गाय दुहा रही थी। पहले स्वामिनी बनने के लिए वह सौत से लड़ा करती थी। सेविका का पद उसे स्वीकार न था। अब सेविका का पद स्वीकार करके वह घर की स्वामिनी बनी हुई थी। गोविन्दी को देख कर तुरन्त बाहर निकल आई और विनय से बोली—क्या है बहन, पानी बूँदी में कैसे चली आईं? गोविन्दी ने सकुचाते हुए कहा—लाला बहुत भूखा है कालिन्दी। आज दिन भर कुछ नहीं मिला। थोड़ा-सा दूध लेने आई हूँ। कालिन्दी भीतर जाकर दूध का मटका लिए बाहर निकल आई और बोली—जितना

ाहो ले लो गोविन्दी। दूध की कौन कमी है। लाला तो अब चलता
ोगा। बहुत जी चाहता है कि, जाकर उसे देख आऊँ, लेकिन जाने का
ुकुम नहीं है। पेट पालना है तो हुकुम मानना ही पड़ेगा। तुमने
ातलाया ही नहीं, नहीं तो लाला के लिए दूध का तोड़ा थोड़ा ही है।
ैं क्या चली आई कि, तुमने उसका मुँह देखने को भी तरसा डाला।
ुझे कभी पूछता है?

यह कहते हुए कालिन्दी ने दूध का मटका गोविन्दी के हाथ में रख दिया। गोविन्दी की आँखों से आँसू बहने लगे। कालिन्दी इतनी दया करेगी, इसकी उसे आशा नहीं थी। अब उसे ज्ञात हुआ कि, यह वही दयाशीला, सेवा परायणा रमणी है जो पहले थी। लेशमात्र भी अन्तर न था। बोली—इतना दूध लेकर क्या करूँगी। बहन, इस लुटिया में डाल दो।

कालिन्दी—दूध छोटे बड़े सब खाते हैं। ले जाओ, (धीरे से) यह मत समझो कि, मैं तुम्हारे घर से चली आई तो बिरानी हो गई। तुम्हारा लोक और स्नेह कभी न भूलूँगी। हाँ, निन्दा सुनने का साहस नह था। भगवान् की दया से अब यहा किसी बात की चिन्ता नहीं है। तुम से कहने की देर है। हाँ, मैं आऊगी नहीं। इससे लाचार हूँ। कल किसी बेला लाला को लेकर नदी किनारे आ जाना। देखने को बहुत जी चाहता है।

गोविन्दी दूध की हाँडी लिए घर चली, गर्व पूर्ण आनन्द के मारे उसके पैर उठे जाते थे। झोंपड़ी में पैर रखते ही बोली—जरा दिया दिखा देना, यहाँ कुछ सुझाई नहीं देता। ऐसा न हो दूध गिर पड़े।

कालिन्दी ने दीपक दिखा दिया। गोविन्दी ने बालक को अपनी गोद में लेटा कर कटोरे से दूध पिलाना चाहा पर एक घूँट से अधिक

दूध कण्ठ में न गया। बालक ने हिचकी ली और अपनी जीवन लीला समाप्त कर दी।

करुण रोदन से घर गूँज उठा। सारी बस्ती के लोग चौंक पड़े। पर, जब मालूम हो गया कि, ज्ञानचन्द्र के घर से आवाज आ रही है तो कोई द्वार पर न आया। रातभर भग्न हृदय दम्पति रोते रहे। प्रातःकाल ज्ञानचन्द्र ने शव उठा लिया और श्मशान की ओर चले। सैकड़ों आदमियों ने उन्हें जाते देखा। पर, कोई समीप न आया!

(७)

कुल-मर्यादा संसार की सबसे उत्तम वस्तु है। उस पर प्राण तक न्योछावर कर दिए जाते हैं। ज्ञानचन्द्र के हाथ से वह वस्तु निकल गई जिस पर उसे गौरव था। वह गर्व, वह आत्म बल, वह तेज जो परम्परा ने उनके हृदय में कूट कूट कर भर दिया था, उसका कुछ अंश तो पहले ही मिट चुका था, बचा-खुचा पुत्र-शोक ने मिटा दिया। उसे विश्वास हो गया कि, उसके अविचार का ईश्वर ने यह दण्ड दिया है। दुरवस्था, जीर्णता और मानसिक दुर्बलता सभी इस विश्वास को दृढ़ करती थीं। वह गोविन्दी को अब भी निर्दोष समझता था। उसके प्रति एक भी कटु शब्द उसके मुँह से न निकलता था, न कोई कटु भाव उसके दिल में जगह पाता था। विधि की क्रूर क्रीड़ा ही उसका सर्वनाश कर रही है। इसमें उसे लेशमात्र भी सन्देह न था।

अब यह घर उन्हें काटे खाता था। घर के प्राण से निकल गए थे। अब माता किसे गोद में लेकर चन्दा मामा को बुलायगी, किसे उबटन मलेगी, किसके लिए प्रातःकाल हलवा पकायगी। अब सब कुछ शून्य था, मालूम होता था उनके हृदय निकाल लिए गए हैं। अपमान, कष्ट, अनादर, इन सारी विडम्बनाओं के होते हुए भी बालक की बाल-

ज्ञान०—वाह, इससे सरल तो कोई काम ही नहीं है। कह देंगे हम रुपये दे चुके। सारा गाँव उनकी तरफ़ हो जायगा। मैं तो अब गाँव भर का द्रोही हूँ न। आज ख़ूब डटकर भोजन किया। अब मैं भी रईस हूँ, बिना हाथ-पैर हिलाए गुलछर्रे उड़ाता हूँ। सच कहता हूँ, तुम्हारी ओर से अब मैं निश्चिन्त हो गया। देस बिदेस भी चला जाऊँ तो तुम अपना निबाह कर सकती हो।

गोविन्दी—कहीं जाने का काम नहीं है।

ज्ञान०—तो यहाँ जाता ही कौन है। किसे कुत्ते ने काटा है जो यह सेवा छोड़ कर मेहनत-मजूरी करने जाय। तुम सचमुच देवी हो गोविन्दी।

भोजन करके ज्ञानचन्द्र बाहर निकले। गोविन्दी भोजन करके कोठरी में आई तो ज्ञानचन्द्र न थे। समझी कहीं बाहर चले गए होंगे। आज पति की बातों से उसका चित्त कुछ प्रसन्न था। शायद अब वह नौकरी-चाकरी की खोज में कहीं जानेवाले हैं। यह आशा बँध रही थी। हाँ, उनकी व्यंग्योक्तियों का भाव उसकी समझ में न आता था। ऐसी बातें वह कभी न करते थे। आज क्या सूझी!

कुछ कपड़े सीने थे। जाड़ों के दिन थे। गोविन्दी धूप में बैठ कर सीने लगी। थोड़ी ही देर में शाम हो गई। अभी तक ज्ञानचन्द्र नहीं आए। तेल बत्ती का समय आया फिर भोजन की तैयारी करने लगी। [illegible] थोड़ा सा दूध दे गई थी। गोविन्दी को तो भूख न थी, अब वह [illegible] आता था। हाँ, ज्ञानचन्द्र के लिए रोटियाँ सेंकनी थीं। सोचा [illegible] हैं, [illegible] रोटी खा लेंगे।

भोजन बना कर निकली ही थी कि सोनदत्त ने आँगन में आकर [illegible]

गोविन्दी—कहीं गए हैं।

सोम०—कपड़े पहन कर गए हैं?

गोविन्दी—हाँ, काली मिर्जई पहने थे।

सोम०—जूता भी पहने थे?

गोविन्दी की छाती धड़-धड़ करने लगी। बोली—हाँ, जूता तो पहने थे! क्यों पूछते हो?

सोमदत्त ने जोर से हाय मार कर कहा—हाय ज्ञानू! हाय!

गोविन्दी घबरा कर बोली—क्या हुआ दादा जी? हाय! बताते क्यों नहीं? हाय!

सोम०—अभी थाने से आ रहा हूँ। वहाँ उनकी लाश मिली है। रेल के नीचे दब गए! हाय! ज्ञानू! मुझ हत्यारे को क्यों न मौत आ गई।

गोविन्दी के मुँह से फिर कोई शब्द न निकला। अन्तिम "हाय" के साथ बहुत दिनों तक तड़पता हुआ प्राण-पक्षी उड़ गया।

एक क्षण में गाँव की कितनी ही स्त्रियाँ जमा हो गईं। सब कहती थीं देवी थी! सती थी!

रात काल दो अर्थियाँ गाँव से निकलीं। एक पर रेशमी चुँदरी का कफन था, दूसरी पर रेशमी शाल का। गाँव के द्विजों में से केवल सोमदत्त साथ था। शेष गाँव के नीच जाति वाले आदमी थे। सोमदत्त ने श्राद्ध-क्रिया का प्रबन्ध किया था! वह रह रह कर दोनों हाथों से अपनी छाती पीटता था, और ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता था—हाय ज्ञानू! हाय ज्ञानू!

चोरी



य बचपन! तेरी याद नहीं भूलती! वह कच्चा, टूटा घर, वह पयाल का बिछौना, वह नंगे बदन, नंगे पाँव खेतों में घूमना, आम के पेड़ों पर चढ़ना—सारी बातें आँखों के सामने फिर रही हैं। चमरौधे जूते पहन कर उस वक्त जितनी खुशी होती थी, अब 'पलैक्स' के बूटों से भी नहीं होती। गरम पनुए रस में जो मजा था, वह अब गुलाब के शर्बत में भी नहीं, चबेने और कच्चे बेरों में जो रस था वह अब अंगूर और खीरमोहन में भी नहीं मिलता।

मैं अपने चचेरे भाई हलधर के साथ दूसरे गाँव में एक मौलवी साहब के यहाँ पढ़ने जाया करता था। मेरी उम्र ८ साल की थी, हलधर (वह अब स्वर्ग में निवास कर रहे हैं) मुझसे दो साल जेठे थे। हम दोनों प्रातःकाल बासी रोटियाँ खा, दोपहर के लिये मटर और जौ का चबेना लेकर चल देते थे। फिर तो सारा दिन अपना था। मौलवी साहब के यहाँ कोई हाजिरी का रजिस्टर तो था नहीं, और न गैरहाज़िरी का जुर्माना ही देना पड़ता था। फिर डर किस बात का! कभी तो थाने के सामने खड़े सिपाहियों की कवायद देखते, कभी किसी भालू या बंदर नचानेवाले मदारी के पीछे-पीछे घूमने में दिन काट देते, कभी रेलवे स्टेशन की ओर निकल जाते और गाड़ियों की बहार देखते। गाड़ियों के समय का जितना ज्ञान हमको था, उतना शायद टाइम-टेबिल को भी न था। रास्ते में शहर के एक महाजन ने एक बाग लगवाना शुरू किया था। वहाँ एक कुआँ खुद रहा था। वह भी हमारे लिये एक दिलचस्प तमाशा।

था। बूढ़ा माली हमें अपने झोपड़े में बड़े प्रेम से बैठाता था। हम उससे झगड़ झगड़कर उसका काम करते। कहीं बालटी लिए पौधों को सींच रहे हैं, कहीं खुरपी से क्यारियाँ गोड़ रहे हैं, कहीं कैंची से बेलों की पत्तियाँ छाँट रहे हैं। उन कामों में कितना आनंद था! माली बाल-प्रकृति का पंडित था। हमसे काम लेता, पर इस तरह, मानो हमारे ऊपर कोई एहसान कर रहा है। जितना काम वह दिन भर में करता, हम घंटे भर में निबटा देते थे। अब वह माली नहीं है, लेकिन बाग़ हरा-भरा है। उसके पास से होकर गुजरता हूँ, तो जी चाहता है, उन पेड़ों के गले मिलकर रोऊँ, और कहूँ—प्यारे, तुम मुझे भूल गए हो, लेकिन मैं तुम्हें नहीं भूला, मेरे हृदय में तुम्हारी याद अभी तक हरी है—उतनी ही हरी, जितने तुम्हारे पत्ते। निःस्वार्थ प्रेम के तुम जीते जागते स्वरूप हो।

कभी-कभी हम हफ़्तों गैरहाजिर रहते, पर मौलवी साहब से ऐसा बहाना कर देते कि उनकी चढ़ी हुई त्योरियाँ उतर जातीं। उतनी कल्पना शक्ति आज होती, तो ऐसा उपन्यास लिख मारता कि लोग चकित रह जाते। अब तो यह हाल है कि बहुत सिर खपाने के बाद कोई कहानी सूझती है। खैर, हमारे मौलवी साहब दरजी थे। मौलवीगीरी केवल शौक़ से करते थे। हम दोनों भाई अपने गाँव के कोरी-कुम्हारों से उनकी खूब बड़ाई करते थे। या कहिए कि हम मौलवी साहब के सफ़री एजेंट थे। हमारे उद्योग से जब मौलवी साहब को कुछ काम मिल जाता, तो हम फूले न समाते। जिस दिन कोई अच्छा बहाना न सूझता, मौलवी साहब के लिये कोई न कोई सौगात ले जाते। कभी सेर आध सेर फलियाँ तोड़ लीं, तो कभी दस-पाँच ऊखें, कभी जौ या गेहूँ की हरी-हरी बालें ले लीं। इन सौगातों को देखते ही मौलवी साहब

का क्रोध शांत हो जाता। जब इन चीज़ों की फ़सल न होती, तो हम सज़ा से बचने का कोई और ही उपाय सोचते। मौलवी साहब को चिड़ियों का शौक़ था। मकतब में श्यामा, बुलबुल, दहियल और चंडूलों के पिंजड़े लटकते रहते थे। हमें सबक़ याद हो, या न हो, पर चिड़ियों को याद हो जाते थे। हमारे साथ ही वे भी पढ़ा करती थीं। इन चिड़ियों के लिये बेसन पीसने में हम लोग खूब उत्साह दिखाते थे। मौलवी साहब सब लड़कों को पतिंगे पकड़ लाने की ताकीद करते रहते थे। इन चिड़ियों को पतिंगों से विशेष रुचि थी। कभी-कभी हमारी बला पतिंगों ही के सिर चली जाती थी। उनका बलिदान करके हम मौलवी साहब के रौद्र रूप को प्रसन्न कर लिया करते थे।

एक दिन सबेरे हम दोनों भाई तालाब में मुँह धोने गए, तो हलधर ने कोई सफ़ेद सी चीज मुट्ठी में लेकर दिखाई। मैंने लपक कर मुट्ठी खोली, तो उसमें एक रुपया था। विस्मित होकर पूछा—यह रुपया तुम्हें कहाँ मिला?

हलधर—अम्माँ ने ताक पर रक्खा था, चारपाई खड़ी करके निकाल लाया।

घर में कोई संदूक या आलमारी तो थी नहीं, रुपए-पैसे एक ऊँचे ताक पर रख दिए जाते थे। एक दिन पहले चचाजी ने सन बेचा था। उसी के रुपए ज़मींदार को देने के लिये रक्खे हुए थे। हलधर को न-जाने क्योंकर पता लग गया। जब घर के सब लोग काम धंधे में लग गए, तो आपने चारपाई खड़ी की, और उस पर चढ़कर एक रुपया निकाल लिया।

उस वक्त तक हमने कभी रुपया छुआ तक न था। वह रुपया देखकर आनंद और भय की जो तरंगें दिल में उठीं, वे अभी तक याद हैं। हमारे लिये रुपया एक अलभ्य वस्तु थी। मौलवी साहब को हमारे

से सिर्फ़ ।।।) मिला करते थे। महीने के अन्त में चचाजी खुद जाकर वैसे दे आते थे। हमारा इतना भी विश्वास न था। वही हम आज एक रुपए के छत्र-पति राजा थे। भला कौन हमारे गर्व का अनुमान कर सकता है! लेकिन मार का भय आनंद में विघ्न डाल रहा था। रुपए अनगिनती तो थे नहीं। चोरी का खुल जाना मानी हुई बात थी। चचाजी के क्रोध का भी मुझे तो नहीं, हलधर को प्रत्यक्ष अनुभव हो चुका था। यों उनसे ज्यादा सीधा-सादा आदमी दुनिया में न था। चची ने उनकी रक्षा का भार सिर पर न लिया होता, तो कोई बनिया उन्हें बाजार में बेच सकता था। पर जब क्रोध आ जाता, तो फिर उन्हें कुछ न सूझता। और तो और, चची भी उनके क्रोध का सामना करते डरती थीं। हम दोनों ने कई मिनट तक इन्हीं बातों पर विचार किया, और आखिर यही निश्चय हुआ कि आई हुई लक्ष्मी को न जाने देना चाहिए। एक तो हमारे ऊपर संदेह होगा ही नहीं, और अगर हुआ भी, तो हम साफ़ इनकार कर जायँगे—कहेंगे, हम रुपया लेकर क्या करते, हमारी नंगा-झोली ले लीजिए। शायद और शांत चित्त से विचार करते, तो यह निश्चय पलट जाता, और वह वीभत्स लीला न होती, जो आगे चल कर हुई; पर उस समय हममें शांति से विचार करने की क्षमता ही न थी।

मुँह हाथ धोकर हम दोनों घर आए, और डरते डरते अंदर कदम रखा। अगर कहीं इस वक्त तलाशी की नौबत आई, तो फिर भगवान् ही मालिक है, लेकिन सब लोग अपना-अपना काम कर रहे थे। कोई हमसे न बोला। हमने नाश्ता भी न किया, चबेना भी न लिया, किताब बगल में दबाई और मदरसे का रास्ता लिया।

बरसात के दिन थे। आकाश पर बादल छाए हुए थे। हम दोन

खुश-खुश मकतब चले जा रहे थे। आज कौंसिल की मिनिस्ट्री पाकर भी शायद उतना आनंद न हो। हज़ारों मंसूबे बाँधते थे, हज़ारों हवाई किले बनाते थे। यह अवसर बड़े भाग्य से मिला था। जीवन में फिर शायद ही यह अवसर मिले। इसलिये रुपये को इस तरह खर्च करना चाहते थे कि ज्यादा से ज्यादा दिनों तक चल सके। यद्यपि उन दिनों ।=) सेर बहुत अच्छी मिठाई मिलती थी, और शायद आध सेर मिठाई में हम दोनों अफर जाते, लेकिन यह ख़याल हुआ कि मिठाई खाएँगे, तो रुपया आज ही गायब हो जायगा। कोई सस्ती चीज़ खानी चाहिए, जिसमें मजा भी आए, पेट भी भरे, और पैसे भी कम ख़र्च हों। आखिर अमरूदों पर हमारी नजर गई। हम दोनों राज़ी हो गए। दो पैसे के अमरूद लिए। सस्ता समय था, बड़े-बड़े बारह अमरूद मिले। हम दोनों के कुर्तों के दामन भर गए। जब हलधर ने खटकिन के हाथ में रुपया रक्खा, तो उसने संदेह से देख कर पूछा—रुपया कहाँ पाया, लाला? चुरा तो नहीं लाए?

जवाब हमारे पास तैयार था। ज्यादा नहीं, तो दो-तीन किताबें तो पढ़ ही चुके थे। विद्या का कुछ कुछ असर हो चला था। मैंने झट से कहा—मौलवी साहब की फ़ीस देनी है। घर में पैसे न थे, तो चचाजी ने रुपया दे दिया।

इस जवाब ने खटकिन का संदेह दूर कर दिया। हम दोनों ने एक पुलिया पर बैठकर खूब अमरूद खाए। मगर अब साढ़े पन्द्रह आने पैसे कहाँ ले जायँ? एक रुपया छिपा लेना तो इतना मुश्किल काम न था। पैसों का ढेर कहाँ छिपता। न कमर में इतनी जगह थी, और न जेब में इतनी गुंजाइश। उन्हें अपने पास रखना अपनी चोरी का ढिंढोरा पीटना था। बहुत सोचने के बाद यह निश्चय किया कि ॥) तो मौलवी साहब

को दे दिए जायँ शेष ≡)॥ की मिठाई उड़े। यह फैसला करके हम लोग मकतब पहुँचे। आज कई दिन के बाद गए थे। मौलवी साहब ने बिगड़कर पूछा—इतने दिन कहाँ रहे?

मैंने कहा—मौलवी साहब घर में गमी हो गई थी।

यह कहते ही कहते ।।।) उनके सामने रख दिए। फिर क्या पूछना था! पैसे देखते ही मौलवी साहब की बाछें खिल गईं। महीना ख़त्म होने में अभी कई दिन बाक़ी थे। साधारणतः महीना चढ़ जाने और बार-बार तक़ाज़े करने पर कहीं पैसे मिलते थे। अबकी इतनी जल्द पेशगी पाकर उनका खुश होना कोई अस्वाभाविक बात न थी। हमने अन्य लड़कों की ओर सगर्व नेत्रों से देखा, मानो कह रहे हों—एक तुम हो कि माँगने पर भी पैसे नहीं देते, एक हम हैं कि पेशगी देते हैं।

हम अभी सबक पढ़ ही रहे थे कि मालूम हुआ, आज तालाब का मेला है, दोपहर से छुट्टी हो जायगी। मौलवी साहब मेले में बुलबुल लड़ाने जायँगे। यह ख़बर सुनते ही हमारी खुशी का ठिकाना न रहा, ।।।) तो बैंक में जमा ही कर चुके थे, ≡)॥ में मेला देखने की ठहरी। खूब बहार रहेगी। मजे से रेवड़ियाँ खाएँगे, गोलगप्पे उड़ाएँगे, झूले पर चढ़ेंगे, और शाम को घर पहुँचेंगे। लेकिन मौलवी साहब ने एक कड़ी शर्त यह लगा दी थी कि सब लड़के छुट्टी के पहले अपना-अपना सबक सुना दें। जो सबक न सुना सकेगा उसे छुट्टी न मिलेगी। नतीजा यह हुआ कि मुझे तो छुट्टी मिल गई, पर हलधर कैद कर दिए गए। और कई लड़कों ने भी सबक सुना दिए थे। वे सभी मेला देखने चल पड़े। मैं भी उनके साथ हो लिया। पैसे मेरे ही पास थे, इसलिये मैंने हलधर को साथ लेने का इंतजार न किया। तै हो गया था कि वह छुट्टी पाते ही मेले में आ जायँ, और दोनों साथ-साथ मेला देखें। मैंने वचन दिया था कि जब

तक वह न आएँगे, एक पैसा भी न खर्च करूँगा। लेकिन क्या मालूम था कि दुर्भाग्य कुछ और ही लीला रच रहा है। मुझे मेला पहुँचे एक घंटे से ज्यादा गुजर गया, पर हलधर का कहीं पता नहीं। क्या अभी तक मौलवी साहब ने छुट्टी नहीं दी, या रास्ता भूल गए? आँखें फाड़-फाड़कर सड़क की ओर देखता था। अकेले मेला देखने में जी भी न लगता था। यह संशय भी हो रहा था कि कहीं चोरी खुल तो नहीं गई, और चचाजी हलधर को पकड़कर घर तो नहीं ले गए। आखिर जब शाम हो गई, तो मैंने कुछ रेवड़ियाँ खाईं, और हलधर के हिस्से के पैसे जेब में रख कर धीरे-धीरे घर चला। रास्ते में खयाल आया, मकतब होता चलूँ। शायद हलधर अभी वहीं हों। मगर वहाँ सन्नाटा था। हाँ एक लड़का खेलता हुआ मिला। उसने मुझे देखते ही ज़ोर से कहकहा मारा, और बोला—बचा घर जाओ तो, कैसी मार पड़ती है। तुम्हारे चचा आए थे। हलधर को मारते मारते ले गए हैं। अजी ऐसा तानकर घूँसा मारा कि मियाँ हलधर मुँह के बल गिर पड़े। यहाँ से घसीटते ले गए हैं। तुमने मौलवी साहब की तनख्वाह दे दी थी, वह भी ले ली। अभी से कोई बहाना सोच लो, नहीं तो बेभाव की पड़ेगी।

मेरी सिट्टी पिट्टी भूल गई, बदन का लहू सूख गया। वही हुआ, जिसका मुझे शक हो रहा था। पैर मन मनभर के हो गए। घर की ओर एक एक कदम चलना मुश्किल हो गया। देवी-देवतों के जितने नाम याद थे, सभी की मानता मानी—किसी को लड्डू, किसी को पेड़े, किसी को बताशे। गाँव के पास पहुँचा, तो गाँव के डीह का सुमिरन किया क्योंकि अपने हलके में डीह ही की इच्छा सर्वप्रधान होती है।

यह सब कुछ किया, लेकिन ज्यों ज्यों घर निकट आता, दिल की धड़कन बढ़ती जाती थी। घटाएँ उमड़ी आती थीं। मालूम होता था,

आसमान फट कर गिरा ही चाहता है। देखता था, लोग अपने-अपने काम छोड़-छोड़ भागे जा रहे हैं, गोरू भी पूँछ उठाए घर की ओर उछलते-कूदते चले जाते थे। चिड़ियाँ अपने घोंसलों की ओर उड़ी चली आती थीं। लेकिन मैं उसी मंद गति से चला जाता था, मानो पैरों में शक्ति ही नहीं। जी चाहता था, ज़ोर का बुख़ार चढ़ आवे, या कहीं चोट लग जाय। लेकिन कहने से धोबी गधे पर नहीं चढ़ता। बुलाने से मौत भी नहीं आती, बीमारी का तो कहना ही क्या। कुछ न हुआ, और धीरे-धीरे चलने पर भी घर सामने आ ही गया। अब क्या हो! हमारे द्वार पर इमली का एक घना वृक्ष था। मैं उसी की आड़ में छिप गया कि ज़रा और अँधेरा हो जाय, तो चुपके से घुस जाऊँ, और अम्माँ के कमरे में चारपाई के नीचे जा बैठूँ। जब सब लोग सो जायँगे, तो अम्माँ से सारी कथा कह सुनाऊँगा। अम्माँ कभी नहीं मारतीं। ज़रा उनके सामने झूठ-मूठ रोऊँगा, तो वह और भी पिघल जायँगी। रात कट जाने पर फिर कौन पूछता है। सुबह तक सबका गुस्सा ठंडा हो जायगा। अगर ये मंसूबे पूरे हो जाते, तो इसमें संदेह नहीं, मैं बेदाग बच जाता। लेकिन वहाँ तो विधाता को कुछ और ही मंजूर था। मुझे एक लड़के ने देख लिया, और मेरे नाम की रट लगाते हुए सीधे मेरे घर में भागा। अब मेरे लिये कोई आशा न रही। लाचार घर में दाखिल हुआ, तो सहसा मुँह से एक चीख निकल गई, जैसे मार खाया हुआ कुत्ता किसी को अपनी ओर आते देख कर भय से चिल्लाने लगता है। बरोठे में पिताजी बैठे थे। पिताजी का स्वास्थ्य इन दिनों कुछ खराब हो गया था। छुट्टी लेकर घर आए हुए थे। यह तो नहीं कह सकता कि उन्हें शिकायत क्या थी, पर वह मूँग की दाल खाते थे, और संध्या समय शीशे के गिलास में एक बोतल में से कुछ उँडेल-उँडेल कर पीते थे।

शायद यह किसी तजुरबेकार हकीम की बताई हुई दवा थी। दवाएँ सब बसानेवाली और कड़वी होती हैं। यह दवा भी बुरी ही थी, पर पिताजी न-जाने क्यों इस दवा को खूब मजा ले-लेकर पीते थे। हम जो दवा पीते हैं, तो आँखें बंद करके एक ही घूँट में गटक जाते हैं। पर शायद इस दवा का असर धीरे धीरे पीने में ही होता हो। पिताजी के पास गाँव के दो-तीन, और कभी-कभी चार-पांच और रोगी भी जमा हो जाते, और घंटों दवा पीते रहते थे, मुश्किल से खाना खाने उठते थे। इस समय भी वह दवा पी रहे थे। रोगियों की मंडली जमा थी। मुझे देखते ही पिताजी ने लाल आँखें करके पूछा—कहाँ थे अब तक?

मैंने दबी ज़बान से कहा—कहीं तो नहीं।

"अब चोरी की आदत सीख रहा है। बोल, तूने रुपया चुराया कि नहीं?"

मेरी जबान बन्द हो गई। सामने नंगी तलवार नाच रही थी। शब्द भी निकलते हुए डरता था।

पिताजी ने जोर से डाँटकर पूछा—बोलता क्यों नहीं, तूने रुपया चुराया कि नहीं?

मैंने जान पर खेलकर कहा—मैंने कहाँ.........

मुँह से पूरी बात भी न निकलने पाई थी कि पिताजी विकराल रूप धारण किए, दाँत पीसते, झपटकर उठे, और हाथ उठाए मेरी ओर चले। मैं जोर से चिल्लाकर रोने लगा—ऐसा चिल्लाया कि पिताजी भी सहम गए। उनका हाथ उठा ही रह गया। शायद समझे कि जब अभी से इसका यह हाल है, तब तमाचा पड़ जाने पर कहीं इसकी जान ही न निकल जाय। मैंने जो देखा कि मेरी हिकमत काम कर गई तो और भी गला फाड़-फाड़कर रोने लगा। इतने में मंडली के दो-तीन आदमियों ने

पिताजी को पकड़ लिया, और मेरी ओर इशारा किया, भाग जा ! उनके बहुधा ऐसे मौके पर और भी मचल जाते हैं, और व्यर्थ मार खा जाते हैं। मैंने बुद्धिमानी से काम लिया।

लेकिन अंदर का दृश्य इससे कहीं भयंकर था। मेरा तो खून सर्द हो गया। हलधर के दोनों हाथ एक खंभे से बँधे थे, सारी देह धूल-धूसरित हो रही थी, और वह अभी तक सिसक रहे थे। शायद वह आँगन-भर में लोटे थे। ऐसा मालूम हुआ कि सारा आँगन उनके आँसुओं से भीग गया है। चची हलधर को डाँट रही थीं, और अम्माँ बैठी मसाला पीस रही थीं। सबसे पहले मुझपर चची की निगाह पड़ी। बोली—लो, वह भी आ गया। क्यों रे रुपया तूने चुराया था कि इसने ?

मैंने निश्शंक होकर कहा—हलधर ने।

अम्माँ बोलीं—अगर उसी ने चुराया था तो तूने घर आकर किसी से कहा क्यों नहीं ?

अब झूठ बोले बग़ैर बचना मुश्किल था। मैं तो समझता हूँ कि जब आदमी को जान का खतरा हो, तो झूठ बोलना क्षम्य है। हलधर मार खाने के आदी थे। दो चार घूँसे और पड़ने से उनका कुछ न बिगड़ सकता था। मैंने मार कभी न खाई थी। मेरा तो दो ही चार घूँसों में काम तमाम हो जाता। फिर हलधर ने भी तो अपने को बचाने के लिए मुझे फँसाने की चेष्टा की थी, नहीं तो चची मुझसे यह क्यों पूछतीं कि रुपया तूने चुराया, या हलधर ने ? किसी भी सिद्धान्त से मेरा झूठ बोलना इस समय स्तुत्य नहीं, तो क्षम्य ज़रूर था। मैंने छूटते ही कहा—हलधर कहते थे कि किसी से न कहना, तो मार डालूँगा।

अम्माँ—देखा, वही बात निकली न। मैं तो कहती ही थी कि बच्चा

बड़े घर की औरतें देखी हैं, मुदा हजूर के तलुओं की बराबरी भी नहीं कर सकतीं।

देवी—चल झूठे! मैं ऐसी कौन बड़ी खूबसूरत हूँ।

मुन्नू—अब सरकार से क्या कहूँ। बड़ी बड़ी खत्रानियों को देखता हूँ, मगर गोरेपन के सिवा और कोई बात नहीं। उनमें यह झलक कहाँ सरकार!

देवी—एक रुपए में तुम्हारा काम चल जायगा?

मुन्नू—भला सरकार दो रुपए तो दे दें।

देवी—अच्छा, यह लो और जाओ।

मुन्नू—जाता हूँ सरकार। आप नाराज न हों, तो एक बात कहूँ?

देवी—क्या पूछते हो, पूछो, मगर जल्दी मुझे सुखदा जगाना है।

मुन्नू—तो सरकार जायँ, फिर कभी कहूँगा।

देवी—नहीं-नहीं, कहो, क्या बात है? अभी कुछ ऐसा जल्दी नहीं है।

मुन्नू—दालमण्डी में सरकार के कोई रहते हैं क्या?

देवी—नहीं, वहाँ तो कोई नातेदार नहीं है।

मुन्नू—तो कोई दोस्त होंगे। सरकार को अक्सर एक कोठे पर से उतरते देखता हूँ।

देवी—दालमण्डी तो रंडियों का मुहल्ला है।

मुन्नू—हाँ सरकार, रंडियाँ बहुत हैं वहाँ। लेकिन सरकार तो सीधे-सादे आदमी मालूम होते हैं। वहाँ रात को देर से तो नहीं आते?

देवी—नहीं, बारह बजे से पहले ही आ जाते हैं, और फिर कहीं नहीं जाते। हाँ, कभी-कभी लाइब्रेरी अलबत्ता जाते हैं।

मुन्नू—बस-बस, यही बात है हुजूर। [illegible]

समझा दीजिएगा सरकार कि रात को उधर न जाया करें। आदमी का दिल कितना ही साफ हो, लेकिन देखनेवाले तो सक करने लगते हैं।

इतने ही में बाबू श्यामकिशोर आ गए। मुन्नू ने उन्हें सलाम किया, बालटी उठाई और चलता हुआ।

श्यामकिशोर ने पूछा—मुन्नू क्या कह रहा था?

देवी—कुछ नहीं, अपने दुखड़े रो रहा था। खाने को माँगता था, दो रुपए दे दिए हैं। बातचीत बड़े ढंग से करता है।

श्याम—तुम्हें तो बातें करने का मरज है। और कोई नहीं, मेहतर ही सही। इस भुतने से न-जाने तुम कैसे बातें करती हो!

देवी—मुझे उसकी सूरत लेकर क्या करना है। गरीब आदमी है। अपना दुख सुनाने लगता है, तो कैसे न सुनूँ।

बाबू साहब ने बेले का गजरा रूमाल से निकालकर देवी के गले में डाल दिया। किंतु देवी के मुख पर प्रसन्नता का कोई चिह्न न दिखाई दिया। तिरछी निगाहों से देखकर बोली—आप आजकल हालमंडी की सैर बहुत किया करते हैं?

श्याम—कौन? मैं?

देवी—जी हाँ, तुम। मुझसे तो लाइब्रेरी का बहाना करके जाते हो, और वहाँ जलसे होते हैं।

श्याम—बिलकुल झूठ, सोलहों आने झूठ। तुमसे कौन कहता था? ही मुन्नू!

देवी—मुन्नू ने मुझसे कुछ नहीं कहा, पर मुझे तुम्हारी टोह मिलती रहती है।

श्याम—तुम मेरी टोह मत लिया करो। शक करने से आदमी शक्की हो जाता है, और तब बड़े बड़े अनर्थ हो जाते हैं। जब मैं [illegible]

क्यों जाने लगा? तुमसे बढ़कर दालमंडी में और कौन है? मैं तो तुम्हारी इन मदभरी आँखों का आशिक़ हूँ। अगर अप्सरा भी सामने आ जाय, तो आँख उठाकर न देखूँ। आज शारदा कहाँ है?

देवी—नीचे खेलने चली गई है।

श्याम—नीचे मत जाने दिया करो। इक्के, मोटरें, बग्घियाँ दौड़ती रहती हैं। न-जाने कब क्या हो जाय। आज ही अमीनाबाज़ार में एक वारदात हो गई। तीन लड़के एक साथ दब गए।

देवी—तीन लड़के!! बड़ा गजब हो गया। किसकी मोटर थी?

श्याम—इसका अभी तक पता नहीं चला। ईश्वर जानता है, तुम्हें यह गजरा बहुत खिल रहा है।

देवी—(मुसकिराकर) चलो बातें न बनाओ।

(२)

तीसरे दिन मुन्नू ने देवी से कहा—सरकार, एक जगह सगाई ठीक हो रही है, देखिए कौल से फिर न जाइएगा। मुझे आपका बड़ा भरोसा है।

देवी—देख ली औरत? कैसी है?

मुन्नू—सरकार, जैसी तकदीर में है, वैसी है। घर की रोटियाँ तो मिलेंगी, नहीं तो अपने हाथों ठोकना पड़ता था। है क्या कि मिज़ाज की सीधी है। हमारे जात की औरतें बड़ी चंचल होती हैं हजूर। सैकड़े पीछे एक भी पाक न मिलेगी।

देवी—मेहतर लोग अपनी औरतों को कुछ कहते नहीं?

मुन्नू—क्या कहें हजूर। डरते हैं कि कहीं अपने आदमी से छुटकर हम से नाता-नाता न तुड़ा दें। मेहतरानियों पर बाबू लोगों की बहुत निगाह रहती है सरकार।

देवी—(हँसकर) चल झूठे। बाबू साहबों की औरतें क्या मेरा रानियों से भी गई-गुज़री होती हैं!

मुन्नू—अब सरकार कुछ न कहलावें। हुजूर को छोड़ कर और तो कोई ऐसी बहुआइन नहीं देखता, जिसका कोई बखान करे। बहुत ही छोटा आदमी हूँ सरकार, पर इन बहुआइनों की तरह मेरी औरत होती, तो उससे बोलने को जी न चाहता। हुजूर के चेहरे मुहरे की कोई औरत मैंने तो नहीं देखी।

देवी—चल झूठे, इतनी खुशामद करना किससे सीखा।

मुन्नू—खुशामद नहीं करता सरकार, सच्ची बात कहता हूँ। हुजूर एक दिन खिड़की के सामने खड़ी थीं। रजा मियाँ की निगाह आप पर पड़ गई। जूते की बड़ी दूकान है उनकी। अल्लाह ने जैसा धन दिया है, वैसा ही दिल भी। आपको देखते ही आँखें नीचे कर लीं। बात बातों में हुजूर की सकल सूरत को सराहने लगे। मैंने कहा, जैसी सूरत है, वैसा ही सरकार को अल्लाह ने दिल भी दिया है।

देवी—अच्छा वह लाँबा सा साँवले रंग का जवान।

मुन्नू—हाँ हुजूर, वही। मुझसे कहने लगे कि किसी तरह एक बार फिर उन्हें देख पाता। लेकिन मैंने डाँटकर कहा, खबरदार मियाँ, जो मुझसे ऐसी बातें कीं। वहाँ तुम्हारी दाल न गलेगी।

देवी—तुमने बहुत अच्छा किया। निगोड़े की आँखें फूट जायँ, जब इधर से जाता है, खिड़की की ओर उसकी निगाह रहती है। कह दो, इधर भूलकर भी न ताके।

देवी—ये रोटियाँ लेते जाओ। आज चूल्हे से बच जाओगे।

मुन्नू—अल्लाह हजूर को सलामत रक्खे। मेरा तो यही जी चाहता है कि इसी दरवाजे पर पड़ा रहूँ और एक टुकड़ा खा लिया करूँ। सच कहता हूँ, हजूर को देखकर भूख-प्यास जाती रहती है।

मुन्नू जा ही रहा था कि बाबू श्यामकिशोर ऊपर आ पहुँचे। मुन्नू की पिछली बात उनके कानों में पड़ गई थी। मुन्नू ज्यों ही नीचे गया, बाबू साहब देवी से बोले—मैंने तुमसे कह दिया था कि मुन्नू को मुँह न लगाओ, पर तुमने मेरी बात न मानी। छोटे आदमी एक घर की बात दूसरे घर पहुँचा देते हैं, इन्हें कभी मुँह न लगाना चाहिए। भूख-प्यास बंद होने की क्या बात थी?

देवी—क्या जानें, भूख-प्यास कैसी? ऐसी तो कोई बात न थी।

श्याम—थी क्यों नहीं, मैंने साफ़ सुना।

देवी—मुझे तो खयाल नहीं आता। होगी कोई बात। मैं कौन उसकी सब बातें बैठी सुना करती हूँ।

श्याम—तो क्या वह दीवार से बातें करता है? देखो, नीचे कोई आदमी इस खिड़की की तरफ ताकता चला जाता है। इसी महल्ले का एक मुसलमान लौंडा है। जूते की दूकान करता है। तुम क्या इस खिड़की पर खड़ी रहा करती हो?

देवी—चिक तो पड़ी हुई है।

श्याम—चिक के पास खड़े होने से बाहर का आदमी तुम्हें साफ़ देख सकता है।

देवी—यह मुझे न मालूम था। अब कभी खिड़की खोलूँगी ही नहीं।

श्याम—हाँ, क्या फ़ायदा? मुन्नू को अंदर मत आने दिया करो।

देवी—गुसलखाना कौन साफ करेगा?

श्याम—खैर आवे, मगर उससे तुम्हें बातें न करनी चाहिए। आज एक नया थिएटर आया है। चलो, देख आवें। सुना है इसके ऐक्टर बहुत अच्छे हैं।

इतने में शारदा नीचे से मिठाई का एक दोना लिए दौड़ती हुई आई। देवी ने पूछा—अरी, यह मिठाई किसने दी?

शारदा—राजा-भैया ने तो दी है। कहते थे तुमको अच्छे-अच्छे खिलौने ला दूँगा।

श्याम—राजा-भैया कौन है?

शारदा—वही तो हैं, जो अभी इधर से गए हैं।

श्याम—वही तो नहीं, जो लंबा-सा साँवले रंग का आदमी है।

शारदा—हाँ-हाँ, वही-वही। मैं अब उनके घर रोज जाऊँगी।

देवी—क्या तू उसके घर गई थी?

शारदा—वही तो गोद में उठा कर ले गए।

श्याम—तू नीचे खेलने मत जाया कर। किसी दिन मोटर के नीचे दब जायगी। देखती नहीं, कितनी मोटरें आती रहती हैं।

शारदा—राजा भैया कहते थे, तुम्हें मोटर पर हवा खिलाने ले चलूँगा।

श्याम—तुम बैठी बैठी किया क्या करती हो, जो तुमसे एक लड़की की निगरानी भी नहीं हो सकती।

देवी—इतनी बड़ी लड़की को संदूक में बन्द करके नहीं रखा जा सकता।

श्याम—मुन्नू तो हई है।

देवी—(ओठ चबाकर) मुन्नू क्या मेरा कोई सगा है, जिससे बैठी बातें किया करती हूँ। ग़रीब आदमी है, अपना दुख रोता है, तो क्या कह दूँ। मुझसे तो दुतकारते नहीं बनता।

श्याम—ख़ैर, खाना बना लो, नौ बजे तमाशा शुरू हो जायगा। सात बज गए हैं।

देवी—तुम जाओ, देख आओ, मैं न जाऊँगी।

श्याम—तुम्हीं तो महीनों से तमाशे की रट लगाए हुए थीं। अब क्या हो गया। क्या तुमने क़सम खा ली है कि जो बात कहूँ, वह कभी न मानूँगी।

देवी—जाने क्यों तुम्हारा ऐसा ख़याल है। मैं तो तुम्हारी इच्छा पाकर ही कोई काम करती हूँ। मेरे जाने से तुम और पैसे ख़र्च हो जायँगे, और रुपए कम पड़ जायँगे, तो तुम मेरी जान खाने लगोगे, यही सोचकर मैंने कहा था। अब तुम कहते हो, तो चली चलूँगी। तमाशा देखना किसे बुरा लगता है।

(२)

नौ बजे श्यामकिशोर एक ताँगे पर बैठकर देवी और [illegible] के साथ थिएटर देखने चले। सड़क पर थोड़ी ही दूर गए थे कि पीछे से एक और ताँगा आ पहुँचा। उस पर रजा बैठा हुआ था, और उसके [illegible]— हाँ उसके बगल में बैठा था मुन्नू मेहतर, जो बाबू साहब के घर की सफ़ाई करता था। देवी ने इन दोनों को देखते ही सिर झुका लिया। उसे आश्चर्य हुआ कि रजा और मुन्नू में [illegible] कितना है कि [illegible] [illegible] ताँगे पर बिठाकर सैर कराने ले जाता है? [illegible] [illegible] को देखते ही

बोल उठी—बाबूजी देखो, वह राजा-भैया आ रहे हैं। (ताली बजाकर) राजा-भैया, इधर देखो, हमलोग तमाशा देखने जा रहे हैं।

रज़ा ने मुसकिरा दिया, मगर बाबू साहब मारे क्रोध के तिलमिला उठे। उन्हें ऐसा मालूम हुआ कि ये दुष्ट केवल मेरा पीछा करने के लिये आ रहे हैं। इन दोनों में जरूर साँठ गाँठ है। नहीं तो रजा मुन्नू को साथ क्यों लेता? उनसे पीछा छुड़ाने के लिये उन्होंने ताँगेवाले से कहा—और तेज ले चलो, देर हो रही है। ताँगा तेज हो गया। रजा ने भी अपना ताँगा तेज किया। बाबू साहब ने जब ताँगे को धीमा करने को कहा, तो रजा का ताँगा भी धीमा हो गया। आखिर बाबू साहब ने झुँझलाकर कहा—तुम ताँगे को छावनी की ओर ले चलो, हम थियेटर देखने न जायँगे। ताँगेवाले ने उनकी ओर कुतूहल से देखा, और ताँगा फेर दिया। रजा का ताँगा भी फिर गया। बाबू साहब का इतना क्रोध आ रहा था कि रजा को ललकारूँ, पर डरते थे कि कहीं झगड़ा हो गया, तो बहुत से आदमी जमा हो जायँगे और व्यर्थ ही झेंप होगी। लहू का घूँट पीकर रह गए। अपने ही ऊपर झुँझलाने लगे कि नाहक आया। क्या जानता था कि ये दोनों शैतान सिर पर सवार हो जायँगे। मुन्नू को तो कल ही निकाल दूँगा। आगे रजा का ताँगा कुछ दूर चलकर दूसरी तरफ़ मुड़ गया, और बाबू साहब का क्रोध कुछ शांत हुआ, किंतु अब थियेटर जाने का समय न था। छावनी से घर लौट आए।

देवी ने कोठे पर आकर कहा—मुफ्त में ताँगेवाले को दो रुपए देने पड़े। श्यामकिशोर ने उसकी ओर रक्त शोषक दृष्टि से देखकर कहा—और मुन्नू से बातें करो और खिड़की पर खड़ी हो-होकर रजा को छवि दिखाओ। तुम न-जाने क्या करने पर तुली हुई हो!

देवी—ऐसी बातें मुँह से निकालते तुम्हें शर्म नहीं आती? तुम

मेरा व्यर्थ ही अपमान करते हो, इसका फल अच्छा न होगा। मैं किसी मर्द को तुम्हारे पैरों की धूल के बराबर भी नहीं समझती, उस अभागे मेहतर की क्या हकीकत है। तुम मुझे इतना नीच समझते हो?

श्याम—नहीं मैं तुम्हें इतना नीच नहीं समझता मगर बेसमझ जरूर समझता हूँ। तुम्हें इस बदमाश को कभी मुँह न लगाना चाहिए था। अब तो तुम्हें मालूम हो गया कि वह छटा हुआ शोहदा है, या अब भी कुछ शक है?

देवी—मैं उसे कल ही निकाल दूँगी।

मुंशीजी लेटे, पर चित्त अशांत था। वह दिन-भर दफ्तर में रहते थे। क्या जान सकते थे कि उनके पीछे देवी क्या किया करती है। वह यह जानते थे कि देवी पतिव्रता है, पर यह भी जानते थे कि अपनी छवि दिखाने का सुंदरियों को मरज होता है। देवी जरूर बन-ठनकर खिड़की पर खड़ी होती है, और महल्ले के शोहदे उसको देख-देखकर मन में न जाने क्या-क्या कल्पना करते होंगे। इस व्यापार को बंद करना उन्हें अपने काबू से बाहर मालूम होता था। शोहदे वशीकरण की कला में निपुण होते हैं। ईश्वर न करे, इन बदमाशों की निगाह किसी भले घर की बहू-बेटी पर पड़े! इनसे कैसे पिंड छुड़ाऊँ!

बहुत सोचने के बाद अंत में इन्होंने वह मकान छोड़ देने का निश्चय किया। इसके सिवा उन्हें दूसरा उपाय न सूझा। देवी से बोले—कहो, तो यह घर छोड़ दूँ। इन शोहदों के बीच में रहने से आबरू बिगड़ने का भय है। देवी ने आपत्ति के भाव से कहा—जैसी तुम्हारी इच्छा।

श्याम—आखिर तुम्हीं कोई उपाय बताओ।

देवी—मैं कौन-सा उपाय बताऊँ, और फिर किस बात का डर है? मुझे तो घर छोड़ने का कोई कारण नहीं मालूम होता। [illegible] नहीं,

जो लाख शोहदे हों, तो क्या। कुत्तों के भूकने के भय से कोई अपना मकान छोड़ देता है!

श्याम—कभी-कभी कुत्ते काट भी तो लेते हैं।

देवी ने इसका कोई जवाब न दिया। और, तर्क करने से पति की दुश्चिंताओं के बढ़ जाने का भय था। यह शक्की तो हैं ही, न-जाने उसका क्या आशय समझ बैठें।

तीसरे ही दिन श्याम बाबू ने वह मकान छोड़ दिया।

(४)

इस नए मकान में आने के एक सप्ताह पीछे एक दिन मुन्नू सिर में पट्टी बाँधे, लाठी टेकता हुआ आया, और आवाज़ दी। देवी उसकी आवाज़ पहचान गई, पर उसे दुतकारा नहीं। जाकर किवाड़ खोल दिए। पुराने घर के समाचार जानने के लिये उसका चित्त लालायित हो रहा था। मुन्नू ने अंदर आकर कहा—सरकार, जब से आपने वह मकान छोड़ दिया, कसम ले लीजिए, जो उधर एक बार भी गया हूँ। उस घर को देखकर रोना आने लगता है। मेरा भी जी चाहता है कि इसी मुहल्ले में आ जाऊँ। पागलों की तरह इधर-उधर मारा फिरा करता हूँ सरकार, किसी काम में जी नहीं लगता। बस, हरदम आप ही की याद आती रहती है। हुजूर जितनी परवरिश करते थे उतनी अब कौन करेगा। यह मकान तो बहुत छोटा है।

देवी—तुम्हारे ही कारन तो वह मकान छोड़ना पड़ा।

मुन्नू—मेरे कारन! मुझसे कौन सी खता हुई सरकार?

देवी—तुम्हीं तो ताड़ी पर रज्जा के साथ बैठे मेरे पीछे पड़े थे। ऐसे आदमी पर आदमी को शक होता ही है।

मुन्नू—अरे सरकार, उस दिन की बात कुछ न पूछिए। रज्जा ने

को एक वकील साहब से मिलने जाना था। वह छावनी में रहते हैं। मुझे भी साथ बिठा लिया। उनका साईस कहीं गया हुआ था। मारे लिहाज के आपके ताँगे के आगे न निकालते थे। सरकार उसे सोहदा कहती हैं। उसका-सा भला आदमी महल्ले भर में नहीं है। पाँचों वखत की नमाज पढ़ता है हजूर, तीसों रोजे रखता है। घर में बीवी-बच्चे सभी मौजूद हैं। क्या मजाल कि किसी पर बदनिगाह हो।

देवी—खैर होगा, तुम्हारे सिर में पट्टी क्यों बँधी है?

मुन्नू—इसका माजरा न पूछिए हजूर। आपकी बुराई करते किसी को देखता हूँ, तो बदन में आग लग जाती है। दरवाजे पर जो हलवाई रहता न था, कहने लगा, मेरे कुछ पैसे बाबूजी पर आते हैं। मैंने कहा, वह ऐसे आदमी नहीं हैं कि तुम्हारे पैसे हजम कर जाते। बस, हजूर, इसी बात पर तकरार हो गई। मैं तो दुकान के नीचे नाली [illegible] रहा था। वह ऊपर से कूदकर आया, और मुझे ढकेल दिया। मैं बेखबर खड़ा था, चारों खाने चित सड़क पर गिर पड़ा। चोट तो आई, मगर मैंने भी दुकान के सामने बचा को इतनी गालियाँ सुनाईं कि याद ही करते होंगे। अब घाव अच्छा हो रहा है हजूर।

देवी—राम! राम! नाहक लड़ाई लेने गए। [illegible] कह देते, तुम्हारे पैसे आते हैं तो आकर माँग लाओ। हैं तो शहर ही में, किसी दूसरे देश तो नहीं भाग गए।

मुन्नू—हजूर, आपकी बुराई सुनके नहीं रहा जाता। फिर [illegible] अपने घर का बादशाह क्यों न हो, भिड़ पड़ूँगा। वह [illegible], तो अपने घर का होगा। यहाँ कौन उसका दिया खाते हैं।

देवी—इस घर में अभी कोई आया कि नहीं?

मुन्नू—कई आदमी देखने आए हजूर, [illegible]

है, वहाँ अब दूसरा कौन रह सकता है? इन लोगों ने उन लोगों को भड़का दिया। राजा मियाँ तो हुज़ूर उसी दिन से खाना-पीना छोड़ बैठे हैं। चिड़िया को याद कर-करके रोया करते हैं। हुज़ूर को हम गरीबों की याद काहे को आती होगी?

देवी—याद क्यों नहीं आती? क्या मैं आदमी नहीं हूँ। जानवर तक थान छूटने पर दो चार दिन चारा नहीं खाते। यह पैसे लो, कुछ बाज़ार से लाकर खा लो। भूखे होगे।

मुन्नू—हुज़ूर की दुआ से खाने की तंगी नहीं है। अल्लाह का दिया खाता है हुज़ूर, पैसों की कौन बात है। आपका दिया तो खाता ही हूँ। हुज़ूर का मिज़ाज ऐसा है कि आदमी बिना कौड़ी का गुलाम हो जाता है। तो अब चलूँगा हुज़ूर, बाबूजी आते होंगे। कहेंगे, यह शैतान यहाँ फिर आ पहुँचा।

देवी—अभी उनके आने में बड़ी देर है।

मुन्नू—अच्छी, एक बात तो भूला ही जाता था। राजा मियाँ ने चिड़िया के लिए ये खिलौने दिए थे। बातों में ऐसा भूल गया कि इनकी सुध ही न रही। कहाँ है चिड़िया?

देवी—अभी तो मदरसे से नहीं आई है। मगर इतने खिलौने लाने की क्या ज़रूरत थी? अरे! राजा ने तो ग़ज़ब ही कर दिया। भेजना था, तो दो चार आने के खिलौने भेज देते। इनकी कीमत दस रुपए से कम न होगी। कुल मिलाकर २०-२५ रुपए से कम के खिलौने नहीं हैं।

देवी—नहीं, इनको लौटा ले जाओ। इतने खिलौने लेकर वह क्या करेगी? मैं एक मेम रखे लेती हूँ।

मुन्नू—हजूर, रजा मियाँ को बड़ा रंज होगा। मुझे तो जीता ही न छोड़ेंगे। बड़े ही मुहब्बती आदमी हैं हजूर। बीबी दो-चार दिन के लिये मैके चली जाती है, तो बेचैन हो जाते हैं।

सहसा शारदा पाठशाला से आ गई, और खिलौने देखते ही उन पर टूट पड़ी। देवी ने डाँटकर कहा—क्या करती है, क्या करती है! मेम ले ले, और सब लेकर क्या करेगी?

शारदा—मैं तो सब लूँगी। मेम को मोटर पर बैठा कर दौड़ाऊँगी। कुत्ता पीछे पीछे दौड़ेगा। इन बरतनों में गुड़िया के खाने बनाऊँगी। कहाँ से आए हैं अम्मा? बता दो।

देवी—कहीं से नहीं आए, मैंने देखने को मँगवाए थे। तू इनमें से कोई एक ले ले।

शारदा—मैं सब लूँगी, मेरी अम्मा न, सब ले लीजिए। कौन लाया है अम्मा?

देवी—मुन्नू, तुम खिलौने लेकर जाओ। एक मेम रहने दो।

शारदा—कहाँ से लाए हो मुन्नू, बता दो?

मुन्नू—तुम्हारे राजा भैया ने तुम्हारे लिये भेजे हैं।

शारदा—राजा-भैया ने भेजे हैं। आहो! (नाचकर) राजा भैया बड़े अच्छे हैं। कल अपनी सहेलियों को दिखाऊँगी। किसी के पास ऐसे खिलौने न निकलेंगे।

देवी—अच्छा, मुन्नू तुम अब जाओ। रजा मियाँ से कह देना फिर [illegible] खिलौने न भेजें।

मुन्नू चला गया, तो देवी ने [illegible]—[illegible], तेरे खि[illegible]

रख दूँ, बाबूजी देखेंगे, तो बिगड़ेंगे। कहेंगे, रजा मियाँ के खिलौने क्यों लिए। तोड़ ताड़ कर फेंक देंगे। भूल कर भी उनसे खिलौनों की चरचा न करना।

शारदा—हाँ अम्मा, रख दो। बाबूजी तोड़ देंगे।

देवी—उनसे कभी मत कहना कि राजा भैया ने खिलौने भेजे हैं नहीं तो बाबूजी राजा-भैया को मारेंगे, और तुम्हारे कान भी काट लेंगे। कहेंगे, लड़की भिखमंगी है, सबसे खिलौने माँगती फिरती है।

शारदा—मैं उनसे कुछ न कहूँगी अम्मा। रख दो सब खिलौने।

इतने में बाबू श्यामकिशोर भी दफ्तर से आ गए। भौंहें चढ़ी हुई थीं। आते-ही-आते बोले—वह शैतान मुन्नू इस मुहल्ले में भी आने लगा! मैंने आज उसे देखा। क्या यहाँ भी आया था?

देवी ने हिचकिचाते हुए कहा—हाँ, आया तो था।

श्याम—और तुमने आने दिया। मैंने मना न किया था कि उसे कभी अन्दर क़दम न रखने देना?

देवी—आकर द्वार खटखटाने लगा, तो क्या करती।

श्याम—उसके साथ वह शोहदा भी रहा होगा?

देवी—उसके साथ और कोई नहीं था।

श्याम—तुमने आज भी न कहा होगा यहाँ मत आया कर?

देवी—मुझे तो इसका ख्याल न रहा। और, अब वह यहाँ क्या करने आवेगा।

श्याम—जो करने आज आया था, वही करने फिर आवेगा। तुम मेरे मुँह में कालिख लगाने पर तुली हुई हो।

देवी ने क्रोध से ऐंठ कर कहा—मुझसे तुम ऐसी ऊटपटाँग बातें न किया करो, समझ गए! तुम्हें ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म भी नहीं

आती। एक बार पहले भी तुमने कुछ ऐसी ही बातें कही थीं। आज फिर तुम वही बात कर रहे हो। अगर तीसरी बार ये शब्द मैंने सुने, तो नतीजा बुरा होगा, इतना कहे देती हूँ। तुमने मुझे कोई वेश्या समझ लिया है!

श्याम—मैं नहीं चाहता कि वह मेरे घर आवे।

देवी—तो मना क्यों नहीं कर देते? मैं तुम्हें रोकती हूँ।

श्याम—तुम क्यों नहीं मना कर देतीं?

देवी—तुम्हें कहते क्या शर्म आती है?

श्याम—मेरा मना करना व्यर्थ है। मेरे मना करने पर भी तुम्हारी इच्छा पाकर उसका आना-जाना होता रहेगा।

देवी ने ओठ चबाकर कहा—अच्छा अगर वह आता ही रहे, तो इससे क्या हानि है? मेहतर सभी घरों में आया जाया करते हैं।

श्याम—अगर मैंने मुन्नू को कभी अपने द्वार पर फिर देखा, तो तुम्हारी कुशल नहीं, इतना समझाए देता हूँ।

यह कहते हुए श्यामकिशोर नीचे चले गए और देवी स्तम्भित सी खड़ी रह गई। तब उसका हृदय इस अपमान, लांछन और अविश्वास के आघात से पीड़ित हो उठा। वह फूट फूट कर रोने लगी। उसको सबसे बड़ी चोट जिस बात से लगी, वह यह थी कि मेरे पति मुझे इतनी नीच, इतनी निर्लज्ज समझते हैं। जो काम वेश्या भी न करेगी, उसका सन्देह मुझ पर कर रहे हैं।

(५)

श्यामकिशोर के जाते ही शारदा अपने खिलौने उठाकर [illegible] कि कहीं बाबूजी सोच न [illegible]। [illegible] वह सोचने लगी कि इन्हें कहाँ छिपाकर रक्खूँ। वह इसी सोच में [illegible] कि [illegible]

आँगन में आ गई। शारदा उसे अपने खिलौने दिखाने के लिये आतुर हो गई। इस प्रलोभन को वह किसी तरह न रोक सकी। अभी तो बाबूजी ऊपर हैं, कौन इतनी जल्दी नीचे आए जाते हैं! तब तक क्यों न सहेली को अपने खिलौने दिखा दूँ? उसने सहेली को बुला लिया, और दोनों नए खिलौने देखने में इतनी मग्न हो गईं कि बाबू श्याम-किशोर के नीचे आने की भी उन्हें खबर न हुई। श्यामकिशोर खिलौने देखते ही झपटकर शारदा के पास जा पहुँचे, और पूछा—तूने ये खिलौने कहाँ पाए?

शारदा की घिग्घी बँध गई। मारे भय के थरथर काँपने लगी। उसके मुँह से एक शब्द भी न निकला।

श्यामकिशोर ने फिर गरजकर पूछा—बोलती क्यों नहीं, तुझे किसने ये खिलौने दिए?

शारदा रोने लगी। तब श्यामकिशोर ने उसे फुसलाकर कहा—डर मत, हम तुझे मारेंगे नहीं। तुमसे इतना ही पूछते हैं, तूने ये सुन्दर खिलौने कहाँ पाए?

हलके-से आघात को भुला दिया, जैसे घातक की तलवार देखकर कोई प्राणी रोग शय्या से उठकर भागे। श्यामकिशोर की ओर भयातुर नेत्रों से देखा, पर मुँह से कुछ न बोली। उसका एक एक रोम मौन भाषा में पूछ रहा था—इस प्रश्न का क्या मतलब है?

श्यामकिशोर ने फिर कहा—तुम्हारी जो इच्छा हो, साफ़ साफ़ कह दो। अगर मेरे साथ रहते-रहते तुम्हारा जी ऊब गया हो, तो तुम्हें अख्तियार है। मैं तुम्हें कैद करके नहीं रखना चाहता। मेरे साथ तुम्हें छल कपट करने की जरूरत नहीं। मैं सहर्ष तुम्हें विदा करने को तैयार हूँ। जब तुमने मन में एक बात निश्चय कर ली, तो मैंने भी निश्चय कर लिया। तुम इस घर में अब नहीं रह सकतीं, रहने के योग्य नहीं हो।

देवी ने आवाज को सँभाल कर कहा—तुम्हें आजकल क्या हो गया है जो हर वक्त जहर उगलते रहते हो। अगर मुझसे जी ऊब गया है तो जहर दे दो, जला जलाकर क्यों मारते हो? मेहतर से बातें करना ऐसा अपराध न था। जब उसने आकर पुकारा, तो मैंने द्वार खोल दिया। अगर मैं जानती कि जरा सी बात का बतंगड़ हो जायगा, तो उसे दूर ही से दुतकार देती।

श्याम—जी चाहता है तालू से जबान खींच लूँ। बातें होने लगीं, इसरार होने लगे, तोहफे आने लगे। अब बाकी क्या रहा!

देवी—क्यों बाटक घाव पर नमक छिड़कते हो? एक [illegible] आन [illegible] पर न आओगे।

श्याम—मैं झूठ कहता हूँ?

देवी—हाँ, झूठ कहते हो।

श्याम—ये खिलौने कहाँ से आए?

[illegible] का कलेजा धक से हो गया। [illegible] तो [illegible] ने [illegible]।

समझ गई, इस वक्त ग्रह बिगड़े हुए हैं, सर्वनाश के सभी संयोग मिलते जाते हैं। ये निगोड़े खिलौने न जाने किस बुरी साइत में आए। मैंने लिए ही क्यों, उसी वक्त लौटा क्यों न दिए? बात बनाकर बोली—आग लगे, वही खिलौने तोहफे हो गए! बच्चों को कोई कैसे रोके, किसी की मानते हैं। कहती रही, मत ले, मगर न मानी, तो मैं क्या करती। हाँ, यह जानती कि इन खिलौनों पर मेरी जान मारी जायगी, तो जबरदस्ती छीन कर फेंक देती।

श्याम—इनके साथ और कौन कौन सी चीजें आई हैं, भला चाहती हो, तो अभी लाओ।

देवी—जो कुछ आया होगा, इसी घर ही में तो होगा। देख क्यों नहीं लेते? इतना बड़ा घर भी तो नहीं है कि दो चार दिन देखते लग जायँ।

श्याम—मुझे इतनी फुरसत नहीं है। खैरियत इसी में है कि जो चीजें आई हों, लाकर मेरे सामने रख दो। यह तो हो ही नहीं सकता कि लड़की के लिये खिलौने आवें और तुम्हारे लिये कोई सौगात न आवे। तुम भरी गंगा में कसम खाओ, तो भी मुझे विश्वास न आयगा।

देवी—तो घर में देख क्यों नहीं लेते?

श्यामकिशोर ने घूँसा तानकर कहा—कह दिया, मुझे फुरसत नहीं है। सीधे से सारी चीजें लाकर रख दो, नहीं तो इसी दम गला दबाकर मार डालूँगा।

गले पर हाथ रख कर बोले—दबा दूं गला! न दिखलावेगी तू उन चीजों को?

देवी—जो अरमान हों, पूरे कर लो।

श्याम—खून पी जाऊँगा! तूने समझा क्या है?

देवी—अगर दिल की प्यास बुझती हो, तो पी जाओ।

श्याम—फिर तो उस मेहतर से बातें न करेगी? अगर अब कभी मुन्नू या उस शोहदे रजा को इस द्वार पर देखा, तो गला काट लूँगा।

यह कह कर बाबूजी ने देवी को छोड़ दिया, और बाहर चले गए। लेकिन देवी उसी दशा में बड़ी देर तक पड़ी रही। उसके मन में इस समय पति-प्रेम, और मर्याद रक्षा का लेश भी न था। उसका [illegible] प्रतिकार के लिये विकल हो रहा था। इस वक्त अगर वह सुनती कि श्यामकिशोर को किसी ने बाजार में जूतों से पीटा, तो कदाचित वह खुश होती। कई दिनों तक पानी से भीगने के बाद, आज वह [illegible] पाकर प्रेम की दीवार भूमि पर गिर पड़ी, और मन की रक्षा करनेवाली कोई [illegible] न रही। अब केवल संकोच और लोक लाज का [illegible] सी रह गई है, जो एक झटके में टूट सकती है।

(६)

श्यामकिशोर बाहर चले गए तो शारदा भी अपने [illegible] घर से निकली। बाबूजी खिलौनों को देखकर [illegible] नहीं [illegible], [illegible] चिंता और [illegible]! [illegible] खिलौने दिलवाये। [illegible] इस [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

तांता बँधा हुआ था। शारदा को अपनी धुन में किसी बात का ध्यान न रहा। बालोचित उत्सुकता से भरी हुई वह खिलौने लिए दौड़ी। वह क्या जानती थी, मृत्यु भी उसी तरह उसके प्राणों का खिलौना लेने के लिये दौड़ी आ रही है। सामने से एक मोटर आती हुई दिखाई दी। दूसरी ओर से एक बग्घी आ रही थी। शारदा ने चाहा, दौड़कर उस पार निकल जाय। मोटर ने बिगुल बजाया, पर शारदा उसके सामने आ चुकी थी। ड्राइवर ने मोटर को रोकना चाहा, शारदा ने भी बहुत जोर मारा कि सामने से निकल जाय, पर होनहार को कौन टालता! मोटर बालिका को रौंदती हुई चली गई। सड़क पर केवल एक मांस की लोथ पड़ी रह गई। खिलौने ज्यों के-त्यों थे। उनमें से एक भी न टूटा था। खिलौने रह गए, खेलनेवाला चला गया। दोनों में कौन स्थायी है और कौन अस्थायी, इसका फैसला कौन करे!

चारों ओर से लोग दौड़ पड़े। अरे! यह तो बाबूजी की लड़की है, जो ऊपरवाले मकान में रहते हैं। लोथ कौन उठावे। एक आदमी ने लपक कर द्वार पर पुकारा—बाबूजी! आपकी लड़की तो सड़क पर नहीं खेल रही थी? जरा नीचे आ जाइए।

देवी ने छज्जे पर खड़े होकर सड़क की ओर देखा, शारदा की लाश पड़ी हुई थी। चीख मार कर बेतहाशा नीचे दौड़ी, और सड़क पर आकर बालिका को गोद में उठा लिया। उसके पैर थरथर कांपने लगे। इस वज्राघात ने स्तम्भित कर दिया। रोना भी न आया।

मुहल्ले के कई आदमी पूछने लगे—बाबूजी कहाँ गए हैं? उनको कैसे बुलाया जाय?

देवी क्या जवाब देती। वह तो बदहवास-सी हो गई थी। लड़की की लाश को गोद में लिए, उसके रक्त से अपने वस्त्रों को भिगोती

आकाश की ओर ताक रही थी, मानो देवतों से पूछ रही हो—क्या सारी विपत्तियाँ मुझी पर ?

अँधेरा होता जाता था, पर बाबूजी का कहीं पता नहीं। कुछ मालूम भी नहीं, वह कहाँ गए हैं। धीरे-धीरे नौ बजे, पर अब तक बाबूजी न लौटे। इतनी देर तक वह कभी बाहर न रहते थे। क्या आज ही इन्हें भी गायब होना था। दस भी बज गए। अब देवी रोने लगी। उसे लड़की की मृत्यु का इतना दुःख न था, जितना अपनी असमर्थता का। वह कैसे शव की दाह-क्रिया करेगी ? कौन उसके साथ जायगा ? क्या इतनी रात गए कोई उसके साथ चलने पर तैयार होगा ? अगर कोई न गया, तो क्या उसे अकेले जाना पड़ेगा ? क्या रात-भर लोथ पड़ी रहेगी ?

ज्यों ज्यों सन्नाटा होता जाता था, देवी को भय होता था। वह पछता रही थी कि मैं शाम ही को क्यों न इसे लेकर चली गई।

११ बजे थे। सहसा किसी ने द्वार खोला। देवी उठ कर खड़ी हो गई। समझी बाबूजी आ गए। उसका हृदय उमड़ आया और वह रोती हुई बाहर आई। पर आह ! यह बाबूजी न थे। ये पुलीस के आदमी थे जो इस मामले की तहकीकात करने आए थे। ५ बजे की घटना। तहकीकात होने लगी ११ बजे। आखिर थानेदार भी तो आदमी है, वह भी तो संध्या समय घूमने फिरने जाता ही है।

घंटे भर तक तहकीकात होती रही। देवी ने देखा, अब संकोच से काम न चलेगा। थानेदार ने उससे जो कुछ पूछा उसका उत्तर उसने निस्संकोच भाव से दिया। ज़रा भी न शरमाई, ज़रा भी न झिझकी। थानेदार भी दंग रह गया।

जब सबके बयान लिख कर थानेदारजी चलने लगे तो देवी ने कहा—आप इस मोटर का पता लगा देंगे ?

दारोगा—अब तो शायद ही उसका पता लगे।

देवी—तो उसको कुछ सज़ा न होगी?

दारोगा—मजबूरी है। किसी को नम्बर भी तो मालूम नहीं।

देवी—सरकार इसका कुछ इन्तजाम नहीं करती? गरीबों के बच्चे इसी तरह कुचले जाते रहेंगे।

दारोगा—इसका क्या इन्तजाम हो सकता है? मोटरें तो बन्द नहीं हो सकतीं!

देवी—कम से-कम पुलिसवालों को यह तो देखना चाहिए कि शहर में कोई बहुत तेज न चलावे? मगर आप लोग ऐसा क्यों करने लगे। आपके अफसर भी तो मोटरों पर बैठते हैं। आप उनकी मोटरें रोकें, तो नौकरी कैसे रहेगी।

थानेदार लज्जित होकर चला गया। जब लोग सड़क पर पहुँचे, तो एक सिपाही ने कहा—मेहरिया बड़ी टनमन दिखात है।

थानेदार—अजी, इसने तो मेरा नातका बन्द कर दिया। किस ग़ज़ब का हुस्न पाया है। मगर कसम ले लो, जो मैंने एक बार भी उसकी तरफ निगाह की हो। ताकने की हिम्मत ही न पड़ती थी।

देवी की ओर स्नेह से देख कर करुण स्वर में कहा—तुम्हारा जी अकेले कैसे लगेगा ?

देवी—तुम दस पाँच दिन की छुट्टी न ले सकोगे।

श्याम—यही मैं भी सोचता हूँ। पन्द्रह दिन की छुट्टी ले लूँ।

श्याम बाबू दफ्तर छुट्टी लेने चले गए। इस विरक्ति में भी आज देवी का हृदय जितना प्रसन्न था, उतना इधर महीनों से न हुआ था। बालिका को खोकर वह विश्वास और प्रेम पा गई थी, और यह उसके आँसू पोंछने के लिये कुछ कम न था।

आह! अभागिनी! खुश मत हो। तेरे जीवन का यह अंतिम कांड होना अभी बाकी है, जिसकी आज तू कल्पना भी नहीं कर सकती।

(७)

दूसरे दिन बाबू श्यामकिशोर घर ही पर थे कि मुन्नू ने आकर सलाम किया। श्यामकिशोर ने ज़रा कड़ी आवाज़ में पूछा—क्यों बे, [illegible] तुम क्या बार बार यहाँ आया करते हो।

मुन्नू बड़े दीन भाव से बोला—[illegible] [illegible] है [illegible] होता है। [illegible] नहीं [illegible] [illegible] हूँ। [illegible] हाथों से निकल सकता है ? [illegible] हूँ।

[illegible]

[illegible]

क्या चारा ? मेरा तो घर ही अँधेरा हो गया। अब यहाँ रहने को जी नहीं चाहता।

मुन्नू—मालकिन तो और भी बेहाल होंगी।

श्याम—हुआ ही चाहें। मैं तो उसे शाम-सबेरे खिला लिया करता था। मा तो दिन-भर साथ रहती थी। मैं तो काम-धंधों में भूल भी जाऊँगा। वह कहाँ भूल सकती हैं। उनको तो सारी जिन्दगी का रोना है।

पति को मुन्नू से बातें करते सुन कर देवी ने कोठे पर से आँगन की ओर देखा। मुन्नू को देख कर उसकी आँखों में बेअख्तियार आँसू भर आए। बोली—मुन्नू मैं तो लुट गई!

मुन्नू—हुजूर अब सबर कीजिए, रोने-धोने से क्या फायदा?

यही सब अन्धेर देख कर तो कभी कभी अल्लाह मियाँ को जालिम कहना पड़ता है। जो बेईमान हैं, दूसरों का गला काटते फिरते हैं, उनको अल्लाह मियाँ भी डरते हैं। जो सीधे और सच्चे हैं, उन्हीं पर आफत आती है।

मुन्नू देर तक देवी को दिलासा देता रहा। श्याम बाबू भी उसकी बातों का समर्थन करते जाते थे। जब वह चला गया तो बाबू साहब ने कहा—आदमी तो कुछ बुरा नहीं मालूम होता।

देवी ने कहा—मोहब्बती आदमी है। रंज न होता, तो क्यों आता।

देवी ने समझा, इनका दिल मुन्नू की ओर से साफ हो गया।

(८)

पन्द्रह दिन गुज़र गए। बाबू साहब फिर दफ्तर जाने लगे। मुन्नू इस बीच में फिर कभी न आया। अब तक तो देवी का दिन पति से बातें करने में कट जाता था। लेकिन अब उनके चले जाने पर उसे घर

बार शारदा की याद आती। प्राय सारा दिन रोते ही कटता था। मोहल्ले की दो-चार नीच जाति की औरतें आती थीं, लेकिन देवी का उनसे मन न मिलता था। वे झूठी सहानुभूति दिखा कर देवी से कुछ ऐंठना चाहती थीं।

एक दिन कोई चार बजे मुन्नू फिर आया, और आँगन में खड़ा होकर बोला—मालकिन, मैं हूँ मुन्नू, जरा नीचे आ जाइएगा।

देवी ने ऊपर ही से पूछा—क्या काम है? कहो तो।

मुन्नू—जरा आइए तो।

देवी नीचे आई, तो मुन्नू ने कहा—रजा मियाँ बाहर खड़े हैं, और हजूर से मातमपुरसी करते हैं।

देवी ने कहा—जाकर कह दो, ईश्वर की जो मरजी थी, वह हुई।

रजा दरवाजे ही पर खड़ा था। ये बातें उसने साफ सुनीं। बाहर ही से बोला—खुदा जानता है, जब से यह खबर सुनी है, दिल के टुकड़े हुए जाते हैं। मैं जरा दिल्ली चला गया था। आज ही लौट कर आया हूँ। अगर मेरी मौजूदगी में यह वारदात हुई होती, तो और तो क्या कर सकता, मगर मोटरवाले को बिला सजा कराये न छोड़ता, चाहे वह किसी राजा ही की मोटर होती। सारा शहर छान डालता। [illegible] चुपके होके बैठ रहे, यह भी कोई बात है! मोटर चलाकर क्या कोई किसी की जान ले लेगा! फूल सी नाजुक बच्ची को जालिमों ने मार डाला। हाय! अब कौन मुझे 'राजा भैया' कहकर पुकारेगा? खुदा की [illegible] टोकरी भर खिलौने लाया हूँ। [illegible] था कि यहाँ यह सितम हो गया। मुन्नू, [illegible] दे दे। इस बक्से में [illegible] हैं। [illegible]

देते होंगे, रात को नींद उचट जाती होगी, बदन में कमजोरी मालूम होती होगी, दिल घबराया करता होगा। ये सारी शिकायतें इस ताबीज से दूर हो जायँगी। मैंने एक पहुँचे हुए फकीर से यह ताबीज लिखाया है।

इसी तरह से रजा और मुन्नू उस वक्त तक एक-न-एक बहाने से द्वार से न टले, जब तक बाबू साहब आते न दिखाई दिए। श्यामकिशोर ने उन दोनों को जाते देख लिया। ऊपर जाकर बड़े गंभीर भाव से बोले—रजा क्या करने आया था?

देवी—यों ही मातमपुरसी करने आया था। आज दिल्ली से आया है। यह खबर सुनकर दौड़ा आया था।

श्याम—कहीं मर्दों से मातमपुरसी करते हैं या औरतों से?

देवी—तुम न मिले, तो मुझी से शोक प्रकट करके चला गया।

श्याम—इसके यह माने हैं कि जो आदमी मुझसे मिलने आए, वह मेरे न रहने पर तुमसे मिल सकता है। इसमें कोई हरज नहीं, क्यों?

देवी—सबसे मिलने मैं थोड़े ही जा रही हूँ।

श्याम—तो रजा मेरा साला है या ससुर?

देवी—तुम तो जरा-जरा सी बात पर कुरबान खाते हो।

अपशब्दों की बौछार और भीषण आक्षेप! उसके सिर में चक्कर सा आ गया। बैठकर रोने लगी। इस जीवन से तो मौत कहीं अच्छी! केवल यही शब्द उसके मुँह से निकले।

बाबू साहब गरजकर बोले—यही होगा, मत घबराओ, यही होगा। तुम मरना चाहती हो, तो मुझे भी तुम्हारे अमर होने की आकांक्षा नहीं है। जितनी जल्द तुम्हारे जीवन का अंत हो जाय, उतना ही अच्छा। कुल में कलंक तो न लगेगा!

देवी ने सिसकियाँ लेते हुए कहा—क्यों एक अबला पर इतना अन्याय करते हो? तुम्हें ज़रा भी दया नहीं आती!

श्याम—मैं कहता हूँ, चुप रह।

देवी—क्यों चुप रहूँ? क्या किसी के ज़बान बंद कर दोगे?

श्याम—फिर बोले जाती है। मैं उठकर सिर तोड़ दूँगा।

देवी—क्यों सिर तोड़ दोगे, कोई ज़बरदस्ती है?

श्याम—अच्छा तो बुला, देखें तेरा कौन हिमायती है!

यह कहते हुए बाबू साहब झल्लाकर उठे, और देवी को कई लातें और घूँसे लगा दिए। मगर वह न रोई, न चिल्लाई, न ज़बान से एक शब्द निकाला, केवल अर्थ-शून्य नेत्रों से पति की ओर [illegible] रही, मानो वह निश्चय करना चाहती थी कि यह [illegible]।

जब श्यामकिशोर मार-पीटकर अलग खड़े हो गए, तो देवी ने कहा—दिल के अरमान अभी न निकले हों तो और निकाल लो। फिर शायद यह अवसर न मिले।

श्यामकिशोर ने [illegible] दिया—[illegible], [illegible] रहो।

यह कहते हुए वह नीचे चले गये. झटके के साथ किवाड़ खोले, धमाके के साथ बंद किये, और कहीं चले गये।

अब देवी की आँखों से आँसू की नदी बहने लगी।

(९)

रात के दस बज गये, पर श्यामकिशोर घर न लौटे। रोते रोते देवी की आँखें सूज आईं। क्रोध में मधुर स्मृतियों का लोप हो जाता है। देवी को ऐसा ज्ञात होता था कि श्यामकिशोर को उसके साथ कभी प्रेम ही न था। हाँ, कुछ दिनों वह उसका मुँह अवश्य जोहते रहते थे। लेकिन वह बनावटी प्रेम था। उसके यौवन का आनंद लूटने ही के लिए उससे मीठी मीठी प्यार की बातें की जाती थीं। उसे छाती से लगाया जाता था, उसे कलेजे पर सुलाया जाता था। वह सब दिखावा था, स्वाँग था। उसे याद ही न आता था कि कभी उससे सच्चा प्रेम किया गया। अब वह रूप नहीं रहा, वह यौवन नहीं रहा, वह नवीनता नहीं रही। फिर उसके साथ क्यों न अत्याचार किये जायँ। उसने सोचा—कुछ नहीं! अब इनका दिल मुझसे फिर गया है, नहीं तो क्या ज़रा सी बात पर यों मुझपर टूट पड़ते। कोई न कोई लांछन लगा कर मुझसे गला छुड़ाना चाहते हैं। यही बात है तो मैं क्या इनकी रोटियों और इनकी मार खाने के लिए इस घर में पड़ी रहूँ। जब प्रेम ही नहीं रहा, तो मेरे यहाँ रहने को धिक्कार है। मैके में कुछ न सही, यह दुर्गति तो न होगी। इनकी यही इच्छा है तो यही सही। मैं तो समझ लूँगी कि विधवा हो गई।

इतनी नीच हो गई कि मेहतरों से, जूतेवालों से आशनाई करने लगी। इस भले आदमी को ऐसी बातें मुँह से निकालते शर्म भी नहीं आती! न जाने इनके मन में ऐसी बातें कैसे आती हैं। कुछ नहीं, यह स्वभाव के नीच, दिल के मैले, स्वार्थी आदमी हैं। नीचों के साथ नीच ही बनना चाहिए। मेरी भूल थी कि इतने दिनों से इनकी घुड़कियाँ सहती रही। जहाँ इज्जत नहीं, मर्यादा नहीं, प्रेम नहीं, विश्वास नहीं, वहाँ रहना बेहयाई है। कुछ मैं इनके हाथ बिक तो गई हूँ नहीं कि यह जो चाहें करें, मारें या काटें, पड़ी सहा करूँ। सीता जैसी पत्नियाँ होती थीं, तो राम जैसे पति भी होते थे।

देवी को अब ऐसी शंका होने लगी, कि कहीं श्यामकिशोर आज रात सचमुच उसका गला न दबा दें, या छुरा न भोंक दें। वह समाचार-पत्रों में ऐसी कई हरजाइयों की खबरें पढ़ चुकी थी। शहर ही में ऐसी कई घटनाएँ हो चुकी थीं। मारे भय के वह थरथरा उठी। यहाँ रहने में प्राणों की कुशल न थी।

देवी ने कपड़ों का एक छोटा-सा बुकचा बाँधा, और सोचने लगी, यहाँ से कैसे निकलूँ? और फिर यहाँ से निकलकर जाऊँ कहाँ? कहीं इस [illegible] का पता लग जाता तो [illegible] निकलता। वह मुझे क्या मैके न पहुँचा देता। एक बार मैके पहुँच भर जाती। फिर तो लाला सिर पटककर रह जायँ, भूलकर भी न आऊँ। यह [illegible] याद करें। रुपए क्यों छोड़ूँ, जिनमें यह मजे से गुलछर्रे उड़ावें। मैंने ही तो काट-कपटकर जमा किए हैं। [illegible] कमाई था। खर्च करना चाहते तो कौड़ी न बचती। [illegible] रखती थी।

देवी [illegible]

ई ऐसा आदमी न था, जिस पर वह भरोसा कर सके, जो इस संकट काम आ सके। था तो बस वही मुन्नू मेहतर। अब उसी के मिलने उसकी सारी आशायें अवलंबित थीं। उसी से मिलकर वह निश्चय गी, कि कहाँ जाय, कैसे रहे, मैके जाने का अब उसका इरादा न था। रे भय होता था कि मैके में श्यामकिशोर से वह अपनी जान न बचा केगी। उसे यहाँ न पाकर वह अवश्य उसके मैके जायँगे, और उसे बरदस्ती खींच लावेंगे। वह सारी यातनाएँ, सारे अपमान सहने को यार थी, केवल श्यामकिशोर की सूरत नहीं देखना चाहती थी। प्रेम पमानित होकर द्वेष में बदल जाता है।

थोड़ी ही दूर पर चौराहा था, कई ताँगेवाले खड़े थे। देवी ने एक डा किया और उससे स्टेशन चलने को कहा।

(१०)

देवी ने रात स्टेशन पर काटी। प्रातःकाल उसने एक ताँगा किराए र किया और परदे में बैठकर चौक जा पहुँची। अभी दूकानें न खुली थीं। लेकिन पूछने से रज़ा मियाँ का पता चल गया। उनकी दूकान पर एक लौंडा झाड़ू दे रहा था। देवी ने उसे बुलाकर कहा—जाकर रज़ा मियाँ [illegible] कह दे कि शारदा की अम्मा तुमसे मिलने आई हैं, अभी चलिए। दस मिनट में रज़ा और मुन्नू दोनों आ पहुँचे।

देवी ने सजल नेत्र होकर कहा—तुम लोगों के पीछे मुझे घर छोड़ना पड़ा। उस रात को तुम्हारा मेरे घर आना ग़ज़ब हो गया। जो कुछ [illegible], वह फिर कहूँगी। मुझे कहीं एक घर दिला दो। पर ऐसा हो कि बाबू साहब को मेरा पता न मिले। नहीं, वह मुझे जीता न छोड़ेंगे।

रज़ा ने मुन्नू की ओर देखा, मानो [illegible] रहा है—देखा, [illegible] कैसा [illegible] था। देवी से बोला—आप [illegible] न करें, [illegible] दिला दूँ।

मुन्नू बहुत ठीक कहते हो भैया। ऐसी सरीफजादी को न-जाने किस मुँह से डाँटते हैं। मुझे इतने दिन हजूर की गुलामी करते हो गए, कभी एक बात न कही।

रजा मकान देखने गया, और तांगा रजा के घर की तरफ चला।

देवी के मन में इस समय एक शंका का आभास हुआ—कहीं ये दोनों सचमुच शोहदे तो नहीं हैं? लेकिन कैसे मालूम हो? यह सत्य है कि देवी ने जीवन-पर्यन्त के लिये स्वामी का परित्याग किया था, पर इतनी ही देर में उसे कुछ पश्चात्ताप होने लगा था। वह अकेली एक घर में कैसे रहेगी, बैठी बैठी क्या करेगी, यह कुछ उसकी समझ में न आता था। उसने दिल में कहा—क्यों न घर लौट चलूँ? ईश्वर करे, वह अभी घर न आए हों। मुन्नू से बोली—तुम जरा दौड़कर देखो तो, बाबूजी घर आए कि नहीं।

मुन्नू—आप चलकर आराम से बैठें, मैं देखे आता हूँ।

देवी—मैं अन्दर न जाऊँगी।

मुन्नू—खुदा की कसम खाके कहता हूँ, घर बिल्कुल खाली है। आप इन लोगों पर शक करती हैं। हम वह लोग हैं कि आपका हुक्म पावें तो आग में कूद पड़ें।

देवी इससे उतरकर अन्दर चली गई। चिड़िया एक बार पकड़ जाने पर भी फड़फड़ाई, किन्तु परों में ताकत न होने के कारण उड़ न सकी, और शिकारी ने उसे अपनी झोली में रख लिया। वह अभागिनी क्या फिर कभी आकाश में उड़ेगी? क्या फिर उसे डालियों पर चहचहाना नसीब होगा?

(११)

श्यामकिशोर [illegible]

श्यामकिशोर के मन में इस वक्त जरा भी पश्चात्ताप, ज़रा भी दया न थी। अगर देवी किसी तरह उन्हें मिल सकती, तो वह उसकी हत्या कर डालने में जरा भी पसोपेश न करते। उसका घर से निकल जाना, चाहे आवेश के सिवा उसका और कुछ कारण न हो, उनकी निगाह में अक्षम्य था। यह अपमान वह किसी तरह न सह सकते थे। मर जाना इससे कहीं अच्छा था। क्रोध बहुधा विरक्ति का रूप धारण कर लिया करता है। श्यामकिशोर को संसार से घृणा हो गई। जब अपनी पत्नी ही दगा कर जाय, तो किससे क्या आशा की जाय? जिस स्त्री के लिये हम जान देते हैं और मरते भी, जिसको सुखी रखने के लिए हम अपने प्राणों का बलिदान कर देते हैं, जब वह अपना न हुई, तो फिर दूसरा कौन अपना हो सकता है। इस स्त्री का प्रबन्ध रखने के लिये उन्होंने क्या क्या नहीं किया। घरवालों से लड़ाई की, भाइयों से नाता तोड़ा, यहाँ तक कि वे अब उनकी सूरत भी नहीं देखना चाहते। उसकी कोई ऐसी इच्छा न थी, जो उन्होंने पूरी न की हो, उसका जरा सा सिर भी दुखता था, तो उनके हाथों के तोते उड़ जाते थे। रात रात उसकी सेवा सुश्रुषा में बैठे रह जाते थे। वही [illegible] र गई, [illegible] मुँह में कालिख [illegible] पर [illegible] [illegible] [illegible] जब [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

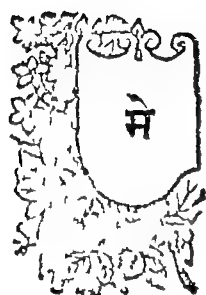
रहती थी, उसके साथ तूने यह अनुचित व्यवहार किया! चाहूँ, तो तुझे अदालत में घसीटकर इस पाप का दंड दे सकता हूँ। मगर क्या फायदा! इसका फल तुझे ईश्वर देंगे।

श्यामकिशोर चुपचाप नीचे उतरे, न किसी से कुछ कहा न सुना और घुंघरू छोड़ दिए, और गंगा तट की ओर चले।

——:०:——

कजाकी

(१)



री बाल-स्मृतियों में 'कजाकी' एक न मिटनेवाला व्यक्ति है। आज चालीस साल गुजर गए, लेकिन कजाकी की मूर्ति अभी तक आँखों के सामने नाच रही है। मैं उन दिनों अपने पिता के साथ आजमगढ़ की एक तहसील में था। कजाकी जाति का पासी था, बड़ा ही हँसमुख, बड़ा ही साहसी, बड़ा ही जिंदा-दिल। वह रोज शाम को डाक का थैला लेकर आता, रात-भर रहता, और सबेरे डाक लेकर चला जाता। शाम को फिर उधर से डाक लेकर आ जाता। मैं दिन भर एक उद्विग्न दशा में उसकी राह देखा करता, ज्यों ही चार बजते, व्याकुल होकर, सड़क पर आकर, खड़ा हो जाता, और थोड़ी देर में कजाकी कंधे पर बल्लम रक्खे, उसकी झुनझुनी बजाता, दूर से दौड़ता हुआ आता दिखलाई देता। वह साँवले रंग का, गठीला, लंबा जवान था। शरीर साँचे में ऐसा ढला हुआ कि चतुर मूर्तिकार भी उसमें कोई दोष न निकाल सकता। उसकी छोटी-छोटी मूँछें उसके सुडौल चेहरे पर बहुत ही अच्छी मालूम होती थीं। मुझे देखकर वह और तेज दौड़ने लगता, उसकी झुनझुनी और जोर से बजने लगती, और मेरे हृदय में और जोर से खुशी की धड़कन होने लगती। हर्षातिरेक में मैं भी दौड़ पड़ता और एक क्षण में कजाकी का कंधा मेरा सिंहासन बन जाता। वह स्थान मेरी अभिलाषाओं का स्वर्ग था। स्वर्ग के निवासियों को भी

त्याज्य हो जाती थी। लेकिन वह आवाज सुनते ही मैं उसकी तरफ जोर से दौड़ा। हाँ, वह कजाकी ही था। उसे देखते ही मेरी विकलता क्रोध में बदल गई। मैं उसे मारने लगा, फिर मान करके अलग खड़ा हो गया।

कजाकी ने हँसकर कहा—मारोगे, तो मैं एक चीज लाया हूँ, वह न दूँगा।

मैंने साहस करके कहा—जाओ, मत देना, मैं लूँगा ही नहीं।

कजाकी—अभी दिखा दूँ तो दौड़कर गोद में उठा लोगे।

मैंने पिघलकर कहा—अच्छा, दिखा दो।

कजाकी—तो आकर मेरे कंधे पर बैठ जाओ, भाग चलूँ। आज बहुत देर हो गई। बाबूजी बिगड़ रहे होंगे।

मैंने अकड़ कर कहा—पहले दिखा दो।

मेरी विजय हुई। अगर कजाकी को देर का डर न होता, और वह एक मिनट भी और रुक सकता, तो शायद पासा पलट जाता। उसने कोई चीज दिखलाई, जिसे वह एक हाथ से छाती से चिपटाए हुए था, लंबा मुँह था, और दो आँखें चमक रही थीं।

घर में वह केवल दो बार, घंटे घंटे-भर के लिये, भोजन करने आते थे, बाकी सारे दिन दफ्तर में लिखा करते थे। उन्होंने बार बार एक सह-कारी के लिये अफसरों से विनय की थी, पर इसका कुछ असर न हुआ था। यहाँ तक कि तातील के दिन भी बाबूजी दफ्तर ही में रहते थे। केवल माताजी उनका क्रोध शांत करना जानती थीं। पर वह दफ्तर में कैसे आतीं। बेचारा कजाकी उसी वक्त मेरे देखते-देखते निकाल दिया गया। उसका बल्लम, चपरास और साफा छीन लिया गया, और उसे डाकखाने से निकल जाने का नादिरी हुक्म सुना दिया गया। आह! उस वक्त मेरा ऐसा जी चाहता था कि मेरे पास सोने की लंका होती, तो कजाकी को दे देता, और बाबूजी को दिखा देता कि आपके निकाल देने से कजाकी का बाल भी बाँका नहीं हुआ। किसी योद्धा को अपनी तलवार पर जितना घमंड होता है, उतना ही घमंड कजाकी को अपनी चपरास पर था। जब वह चपरास खोलने लगा, तो उसके हाथ काँप रहे थे, और आँखों से आँसू बह रहे थे। और, इस सारे उपद्रव की जड़ वह कोमल वस्तु थी, जो मेरी गोद में मुँह छिपाए ऐसे चैन से बैठी हुई थी, मानो माता की गोद में हो। जब कजाकी चला, तो मैं भी धीरे-धीरे उसके पीछे पीछे चला। मेरे घर के द्वार पर आकर कजाकी ने कहा—भैया, अब घर जाओ, साँझ हो गई।

मैं चुपचाप खड़ा अपने आँसुओं के वेग को सारी शक्ति से दबा रहा था।

कजाकी फिर बोला—भैया, मैं कहीं बाहर थोड़े ही चला जाऊँगा। फिर आऊँगा, और तुम्हें कन्धे पर बैठालकर कुदाऊँगा। बाबूजी ने नौकरी ले ली है तो क्या इतना भी न करने देंगे। तुमको छोड़कर न कहीं न जाऊँगा, भैया। जाकर अम्मा से कह दो, कजाकी जाता है। उसका कहा सुना माफ करें।

आदि से अंत तक कह सुनाया—अम्मा, वह इतना तेज भागता था कि कोई दूसरा होता, तो पकड़ ही न सकता। सन-सन, हवा की तरह, उड़ता चला जाता था। कज़ाकी पाँच-छः घंटे तक इसके पीछे दौड़ता रहा। तब कहीं जाकर बच्चा मिले। अम्माजी, कज़ाकी की तरह कोई दुनिया-भर में नहीं दौड़ सकता। इसी से तो देर हो गई। इसलिये बाबूजी ने बेचारे को निकाल दिया—चपरास, साफा, बल्लम, सब छीन लिया। अब बेचारा क्या करेगा? भूखों मर जायगा।

अम्मा ने पूछा—कहाँ है कज़ाकी? जरा उसे बुला तो लाओ।

मैंने कहा—बाहर तो खड़ा है। कहता था, अम्माजी से मेरा कसूर माफ करवा देना।

खुशी की चपरास है। पहले सरकार का नौकर था, अब तुम्हारा नौकर हूँ।

यह कहते-कहते उसकी निगाह टोकरी पर पड़ी, जो वहीं रक्खी थी, बोला—यह आटा कैसा है, भैया?

मैंने सकुचाते हुए कहा—तुम्हारे ही लिये तो लाया हूँ। तुम भूखे होगे। आज क्या खाया होगा?

कज़ाकी की आँखें तो मैं न देख सका, उसके कंधे पर बैठा हुआ था, हाँ, उसकी आवाज से मालूम हुआ कि उसका गला भर आया है। बोला—भैया, क्या रूखी रोटियाँ खाऊँगा? दाल, नमक, घी—और तो कुछ नहीं है।

बड़ी देर तक इधर-उधर की सैर कराई, गीत सुनाए, और मुझे घर पहुँचाकर चला गया। मेरे द्वार पर आटे की टोकरी भी रख दी।

मैंने घर में कदम रक्खा ही था कि अम्माजी ने डाँटकर कहा—क्यों रे चोर, तू आटा कहाँ ले गया था? अब चोरी करना सीखता है! बता, किसको आटा दे आया, नहीं तो तेरी खाल उधेड़कर रख दूँगी।

मेरी नानी मर गई। अम्मा क्रोध में सिंहिनी हो जाती थीं। सिटपिटाकर बोला—किसी को तो नहीं दिया।

अम्मा—तूने आटा नहीं निकाला? देख, कितना आटा सारे आँगन में बिखरा पड़ा है?

मैं चुप खड़ा था। वह कितना ही धमकाती थीं, चुमकारती थीं, पर मेरी जबान न खुलती थी। आनेवाली विपत्ति के भय से प्राण सूख रहे थे। यहाँ तक कहने की हिम्मत न पड़ती थी कि बिगड़ती क्यों हो, आटा तो द्वार पर रक्खा हुआ है। न उठाकर लाते ही बनता था, मानो क्रिया-शक्ति ही लुप्त हो गई हो—मानो पैरों में हिलने की सामर्थ्य ही नहीं।

औरत ने रोकर कहा—बहूजी, जिस दिन से आपके पास से आटा लेकर गए हैं, उसी दिन से बीमार पड़े हैं। बस, भैया भैया किया करते हैं। भैया ही में उनका मन बसा रहता है। चौंक चौंककर "भैया! भैया!" कहते हुए द्वार की ओर दौड़ते हैं। न जाने उन्हें क्या हो गया है बहूजी। एक दिन तुमसे कुछ कहा-न-सुना, घर से चल दिए, और एक गली में छिपकर भैया को देखते रहे। जब भैया ने उन्हें देख लिया, तो भागे। तुम्हारे पास आते हुए लजाते हैं।

मैंने कहा—हाँ, हाँ मैंने उस दिन तुमसे [illegible] था [illegible]।

अम्मा—घर में कुछ खाने पीने को है?

औरत—हाँ बहूजी, तुम्हारे आशिर्वाद से खाने पीने का दुख नहीं है। आज सबेरे उठे, और तालाब की ओर चले गए। बहुत [illegible] रहा बाहर मत जाओ, [illegible] लगेगी, मगर न माना। [illegible] पैर काँपने लगते हैं। मगर बाजार में [illegible] [illegible]। तब तुमसे [illegible], [illegible] [illegible] [illegible]। [illegible] [illegible] [illegible] है। [illegible] [illegible] जाता।

औरत ने अपना कपड़ा उठाया और चली गई। अम्मा ने बहुत पुकारा, पर वह न रुकी। शायद अम्माजी उसे सीधा देना चाहती थीं।

अम्मा ने पूछा—सचमुच बहाल हो गया?

बाबूजी—और क्या झूठे ही बुला रहा हूँ। मैंने तो पाँचवें ही दिन उसकी बहाली की रिपोर्ट की थी।

अम्मा—यह तुमने बहुत अच्छा किया।

बाबूजी—उसकी बीमारी की यही दवा है।

(४)

प्रातःकाल मैं उठा, तो क्या देखता हूँ कि कजाकी लाठी टेकता हुआ चला आ रहा है। वह बहुत दुबला हो गया था। मालूम होता था, बूढ़ा हो गया है। हरा-भरा पेड़ सूख कर ठूँठ हो गया था। मैं उसकी ओर दौड़ा, और उसकी कमर से चिमट गया। कजाकी ने मेरे गाल चूमे, और मुझे उठाकर कंधे पर बैठालने की चेष्टा करने लगा। पर मैं न उठ सका। तब वह जानवरों की भाँति भूमि पर हाथों और घुटनों के बल खड़ा हो गया, और मैं उसकी पीठ पर सवार होकर डाकखाने की ओर चला। मैं उस वक्त फूला न समाता था, और शायद कजाकी मुझसे भी ज्यादा खुश था।

बाबूजी ने कहा—कजाकी, तुम बहाल हो गए। अब कभी देर न करना।

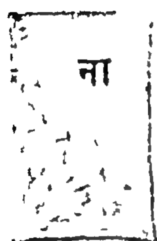
कजाकी रोता हुआ पिताजी के पैरों पर गिर पड़ा। मगर शायद मेरे भाग्य में दोनों सुख भोगना न लिखा था—मुन्नू मिला, तो कजाकी छूटा, कजाकी आया तो मुन्नू हाथ से गया, और ऐसा गया कि आज तक उसके जाने का दुःख है। मुन्नू मेरी ही थाली में खाता था। जब तक मैं खाने न बैठूँ, वह भी कुछ न खाता था। उसे भात से बहुत ही

रुचि थी, लेकिन जब तक खूब घी न पड़ा हो, उसे संतोष न होता था। वह मेरे ही साथ सोता भी था, और मेरे ही साथ उठता भी। सफाई तो उसे इतनी पसन्द थी कि मल-मूत्र त्याग करने के लिये घर से बाहर मैदान में निकल जाता था। कुत्तों से उसे चिढ़ थी। कुत्तों को घर में न घुसने देता। कुत्ते को देखते ही थाली से उठ जाता और उसे दौड़ा कर घर से बाहर निकाल देता था।

कज़ाकी को डाकखाने में छोड़कर जब मैं खाना खाने गया, तो मुन्नू भी आ बैठा। अभी दो चार ही कौर खाए थे कि एक बड़ा-सा झबरा कुत्ता आँगन में दिखाई दिया। मुन्नू उसे देखते ही दौड़ा। दूसरे घर में जाकर कुत्ता दुर्बल हो जाता है। झबरा कुत्ता उसे आते देख कर भागा। मुन्नू को अब लौट आना चाहिए था। मगर वह कुत्ता उसके लिए यमराज का दूत था। मुन्नू को उसे घर से निकाल कर ही संतोष न हुआ। वह उसे घर से बाहर मैदान में भी दौड़ाने लगा। मुन्नू को शायद खयाल न रहा कि यहाँ मेरी अमलदारी नहीं है। वह उस क्षेत्र में पहुँच गया था, जहाँ झबरे का भी उतना ही अधिकार था, जितना मुन्नू का। मुन्नू कुत्तों को भगाते-भगाते कदाचित् अपने बाहुबल पर घमंड करने लगा था। वह यह न समझता था कि घर में उसकी पीठ पर घर के [illegible] प्यार किया करता है। झबरे ने इस मैदान में आते ही उलट कर मुन्नू की गरदन दबा दी। बेचारे मुन्नू के मुँह से आवाज़ तक न निकली। जब पड़ोसियों ने शोर मचाया, तो मैं दौड़ा। देखा, तो मुन्नू मरा पड़ा है, और झबरे का कहीं पता नहीं।

आँसुओं की होली

(१)



नामों को बिगाड़ने की प्रथा न-जाने कब चली और कहाँ शुरू हुई। कोई इस संसार-व्यापी रोग का पता लगाए तो ऐतिहासिक संसार में अवश्य ही अपना नाम छोड़ जाय। पण्डितजी का नाम तो श्रीविलास था, पर मित्र लोग सिलबिल कहा करते थे। नामों का असर चरित्र पर भी कुछ-न-कुछ पड़ जाता है। बिचारे सिलबिल सचमुच ही सिलबिल थे। दफ्तर जा रहे हैं, मगर पाजामे का इजारबन्द नीचे लटक रहा है। सिर पर फेल्ट-कैप है, पर लम्बी-सी चुटिया पीछे झाँक रही है। अचकन यों बहुत सुन्दर है, कोई फैशनेबुल, विलायती अचकी, मगर जरा नीची हो गई है। न-जाने उन्हें त्योहारों से क्या चिढ़ थी। दिवाली गुजर जाती, पर वह भलामानस कौड़ी हाथ में न लेता। और होली का दिन तो उनकी भीषण परीक्षा का दिन था। तीन दिन वह घर से बाहर न निकलते थे। घर पर भी काले कपड़े पहने बैठे रहते थे। यार लोग टोह में रहते थे कि कहीं बचा फँस जायँ, मगर घर में घुसकर तो फौजदारी नहीं की जाती। एक-आध बार फँस भी, मगर चिरिया धुनिया कर बेदाग निकल गए।

यही पुराना धुराना ढङ्ग पसन्द था। बीबी को जब कमका डाँट दिया तो उनकी मजाल है कि रङ्ग हाथ से छुए। विपत्ति यह थी कि ससुराल के लोग भी होली मनाने आनेवाले थे। पुरानी मसल है, बहन अन्दर तो भाई सिकन्दर। इन सिकन्दरों के आक्रमण से बचने का उन्हें कोई उपाय न सूझता था। मित्र लोग घर में न जा सकते थे, लेकिन सिकन्दरों को कौन रोक सकता है।

स्त्री ने आँसू पोंछकर कहा—"अरे भैया! क्या सचमुच रंग न घर लाओगे। यह कैसी होली है बाबा?"

सिलबिल ने त्योरियाँ चढ़ाकर कहा—"बस मैंने एक बार कह दिया और बात दोहराना मुझे पसन्द नहीं। घर में रंग नहीं आयेगा और न कोई छुएगा। मुझे कपड़ों पर लाल छींटे देखकर मतली आ जाती है। हमारे घर में ऐसी ही होली होती है।"

स्त्री ने सिर झुकाकर कहा—"तो न लाना रङ्ग-वङ्ग, मुझे रङ्ग लेके क्या करना है। जब तुम्हीं रङ्ग न छुओगे तो मैं कैसे छू सकती हूँ।"

सिलबिल ने प्रसन्न होकर कहा—"निस्सन्देह यही [illegible] धर्म है।"

"तुम ऊपरवाली छोटी कोठरी में छिप रहना, मैं कह दूँगी उन्होंने जुलाब लिया है। बाहर निकलेंगे तो हवा लग जायगी।"

पण्डितजी खिल उठे—"जय-जय, यह सबसे अच्छा है।"

(२)

होली का दिन है। बाहर हाहाकार मचा हुआ है। पुराने ज़माने में अबीर और गुलाल के सिवा और कोई रङ्ग न खेला जाता था। अब नीले, हरे, काले, सभी रङ्गों का मेल हो गया है, और इस संगठन से बचना आदमी के लिये तो सम्भव नहीं, हाँ देवता बचें तो बचें। फिर [illegible] के दोनों साले मुहल्ले-भर के मर्दों, औरतों, बच्चों, बूढ़ों का निशाना बने हुए थे। इन्होंने भी एक हण्डा रङ्ग घोल रखा था। सिकन्दरी हमले कर रहे थे। बाहर के दीवानखाने के, फर्श दीवारें यहाँ तक कि तस्वीरें भी रंग उठी थीं। घर में भी यही हाल था। मुहल्ले की ननदें अपना हक मानने लगी थीं। पनाला तक रङ्गीन हो गया था।

बड़े साले ने पूछा—"क्यों री चम्पा, क्या सचमुच उनकी तबीयत अच्छी नहीं, खाना खाने भी न आए।"

चम्पा ने सिर झुकाकर कहा—"हाँ भैया, रात ही से पेट में दर्द होने लगा, डाक्टर ने हवा में निकलने को मना कर दिया है।"

ज़रा देर बाद छोटे साले ने कहा—"क्यों जीजी, क्या भाई साहब नीचे नहीं आवेंगे? ऐसी भी क्या बीमारी है! कहो तो ऊपर जाकर देख आऊँ।"

होता है। जितनी देर में लोगों ने भोजन किया, उतनी देर में चिता तैयार हो गई। बड़े साले ने बूढ़ी चम्पा को ऊपर भेजा कि मिलखी की थाली ऊपर दे आवे।

मिलजित ने थाली की ओर कुपित नेत्रों से देखकर कहा—"इसे मेरे सामने से हटा ले जाओ।"

"क्या आज उपवास ही करोगे?"

"तुम्हारी यही इच्छा है तो यही सही।"

यकायक पैरों की आहट पाकर सिलबिल ने सामने देखा तो दोनों साले चले आ रहे हैं। उन्हें देखते ही बिचारे ने मुँह बना लिया, चादर से शरीर ढक लिया, और कराहने लगे।

बड़े साले ने कहा—"कहिए, कैसी तबीयत है। थोड़ी-सी खिचड़ी खा लीजिए।"

सिलबिल ने मुँह बनाकर कहा—"अभी तो कुछ खाने की इच्छा नहीं है।"

"नहीं, उपवास करना तो हानिकर होगा। खिचड़ी खा लीजिए।"

बेचारे सिलबिल ने मन में इन दोनों शैतानों को खूब कोसा और विष की भाँति खिचड़ी कण्ठ के नीचे उतारी। आज होली के दिन खिचड़ी ही भाग्य में लिखी थी! जब तक सारी खिचड़ी खत्म न हो गई, दोनों वहीं डटे रहे, मानो जेल के अधिकारी किसी अनशनव्रती कैदी को भोजन करा रहे हों। बेचारे को ठूँस-ठूँसकर खिचड़ी खानी पड़ी। पकवानों के लिए गुंजाइश ही न रही।

(२)

न करूँ तो भी तो काम नहीं चलता। तुम्हीं को बुरा लगेगा। रो-रोज आवोगे।"

"ईश्वर न करे कि रोज आवें, यहाँ तो एक ही दिन में बधिया बैठ गई।"

थाल की सुगन्धमय, तरबतर चीज देखकर सहसा पण्डितजी के मुखारविन्द पर मधुर मुस्कान की लाली दौड़ गई। एक-एक चीज खाते थे और चम्पा को सराहते थे—सच कहता हूँ चम्पा, मैंने ऐसी चीजें कभी नहीं खाई थीं। हलवाई साला क्या बनाएगा। जी चाहता है कुछ इनाम दूँ।

"तुम मुझे बना रहे हो। क्या करूँ, जैसा बनाने आता है बना लाई।"

"नहीं जी, सच कह रहा हूँ। मेरी तो आत्मा तक तृप्त हो गई। आज मुझे ज्ञात हुआ कि भोजन का सम्बन्ध उदर से इतना नहीं जितना आत्मा से है। बतलाओ क्या इनाम दूँ?"

"जो माँगूँ वह दोगे।"

"दूँगा, जनेऊ की कसम खाकर कहता हूँ।"

"न दो तो मेरी बात जाय।"

"कहता तो हूँ भाई अब कैसे कहूँ। क्या लिखा-पढ़ी कर दूँ?"

"अच्छा तो माँगती हूँ। मुझे अपने साथ होली खेलने दो।"

पण्डितजी का रङ्ग उड़ गया। आँखें फाड़कर बोले—होली खेलने दूँ! मैं तो होली खेलता ही नहीं। कभी नहीं खेला। होली खेलना होता तो घर में छिपकर क्यों बैठता।"

मैंने होली नहीं खेली। होली ही नहीं, और सभी त्योहार छोड़ दिये। ईश्वर ने शायद मुझे क्रिया की शक्ति नहीं दी। अब बहुत चाहता हूँ कि कोई मुझसे सेवा का कोई काम ले। खुद आगे नहीं बढ़ सकता, लेकिन पीछे चलने को तैयार हूँ। पर कोई मुझसे काम लेनेवाला भी नहीं। लेकिन आज यह रङ्ग डालकर तुमने मुझे उस धिक्कार की याद दिला दी। ईश्वर मुझे ऐसी शक्ति दे कि मैं मन में ही नहीं, कर्म में भी मनुष्य बनूँ।"

यह कहते हुए आपिलास ने तश्तरी से गुलाल निकाला और उसके चरन पर छिड़ककर उसे प्रणाम किया।

First Class Book